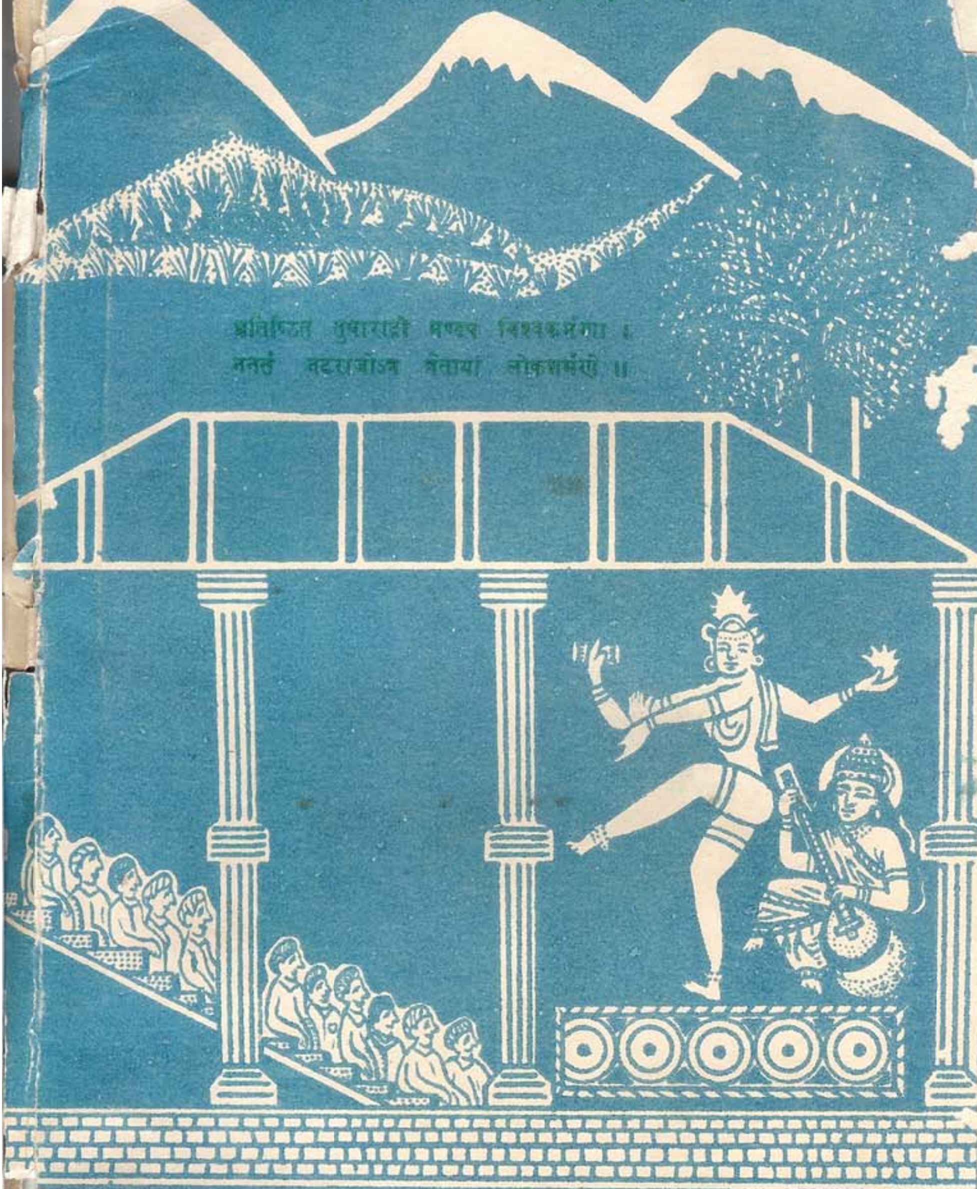
सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में

भारतीय संगीतकला



अधिष्ठितं तुषाराद्रौ मण्डपं विश्वकर्मणा ।
ननर्तं नटराजोऽत्र त्रेतायां लोकशर्मणे ॥

हिन्दी विभाग

सागर विश्वविद्यालय

Saundaryashastr Ke Sandarbh Mein Bharatiya
Sangeet Kala

सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में

भारतीय संगीतकला

लेखकः —

रामाश्रय शुक्ल 'करुणेन्द्र'

लब्धस्वर्णपदक, एम. ए. (हिन्दी)

रिसर्च फेलो

प्रकाशक

हिन्दी विभाग

सागर विश्वविद्यालय

सम्वत् २०२८

प्र
क
र
िा
का

संस्करण — दिसम्बर, १९७१ ई०

प्रतियाँ — ५०० मात्र

मूल्य — ७.५० रुपये

मुद्रक — सागर प्रेस, सागर

प्रकाशक — हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय

सज्जानिर्देश — रामाश्रय शुक्ल 'करुणेन्द्र', १९७१ ई०

आदरणीय

आचार्य डॉ० भगीरथ मिश्र

को

सादर समर्पित

'यह शोध सच पूरा हुआ जिनके परम उपकार से ।
सम्मान उनका कर रहा हूँ तुच्छ इस उपहार से ॥'

—'करुणेन्द्र'

अनुक्रमणिका

विचारणा

'रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥' ना० शा० ६/१०

अर्थात् भारतीय नाट्यकला के रस, भाव अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान, रंग- ये एकादश विषय संग्रह कहलाते हैं। स्वर, आतोद्य एवं गान विषयों की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा करने के लिये ही यह "सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय संगीतकला" नामक शोध-पुस्तिका लिखी गई है। 'रंग' विषय की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा करने के लिये "सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय शिल्पकलायें" नाम से दूसरी पुस्तिका शीघ्र ही प्रकाशित होगी। शेष सात विषयों को शोधप्रबंध ("सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय नाट्यकला") में ही स्थान दिया जा सकेगा। यदि ये पुस्तिकायें स्वतंत्र रूप से न लिखी जातीं तो शोधप्रबंध निश्चय ही दीर्घकाय एवं जटिलप्राय हो जाता।

गुरुद्वय डा० भगीरथ मिश्र एवं डा० बच्चूलाल अवस्थी के सक्रिय सहयोग से ही यह पुस्तिका प्रकाशित हो सकी है। एतदर्थ वे मेरे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे। समस्त गुरुजनों के, विशेषकर डा० शिवकुमार मिश्र के प्रचुर प्रोत्साहन से यह पुस्तिका प्रत्याशित पीठिका पर पहुँच सकी है। एतदर्थ वे मेरे लिये सदैव सम्माननीय रहेंगे। इसी प्रसंग में संगिनी मंजु शुक्ला को धन्यवाद देना अनुचित न होगा, क्योंकि प्रेस के लिए नई प्रति उन्होंने ही तैयार की। इतना होते हुए भी, पुस्तिका के प्रकाशन का मूल श्रेय 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' को ही सुलभ है। एतदर्थ मैं इस संस्था का सदैव ऋणी रहूँगा। 'आयोग' से स्वीकृत सहायता के पर्याप्त न होने पर अतिरिक्त व्यय का भुगतान मुझे ही करना पड़ा। इन सभी संयोगों के फलस्वरूप यह पुस्तिका निश्चित समय में प्रकाशित हो सकी है।

मेरी सौन्दर्य-चेतना के बहुमुखी आयाम तो कुछ भी नहीं हैं? इसीलिये इस शोधकार्य में मुझे वांछित सफलता नहीं मिल सकी है। मैं उन सज्जनों का अतिशय आभारी रहूँगा, जो निजी शंकाओं, आलोचनाओं एवं सम्मतियों से मुझे अनुग्रहीत करेंगे। पुनश्च पुस्तिका के गुण-दोषों के विवेचन का दायित्व मेरा नहीं अपितु समीक्षकों का है। इत्यलम्।

—रामाश्रय शुक्ल 'करुणेन्द्र'

३१.१२.७१

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

विधाता की सर्वश्रेष्ठ कृति, मानव है। वह स्वभाव से सौन्दर्यप्रेमी है। उसकी अन्तश्चेतना सम्पूर्ण चराचर जगत् को सौन्दर्यमय देखना चाहती है। भौतिक जगत् की यान्त्रिक सभ्यता से विक्षुब्ध मानव सौन्दर्य की क्रोड़ में शाश्वत परित्राण पाना चाहता है। जगती के रंगमंच पर जीवन का क्षणिक अभिनय देख कर वह मृत्युपर्यन्त सौन्दर्यास्वादन करते हुए जीवित रहना चाहता है। संस्कारजन्य वासनायें उसे सौन्दर्योन्मुखी बनाती हैं। सब मिला कर, सौन्दर्य मानव-जीवन की रागात्मक समीक्षा है।

सौन्दर्य, अपने मूल रूप में, या तो प्राकृतिक होगा या कृत्रिम। बाह्य जगत् के उपादानों से सम्बद्ध सौन्दर्य प्राकृतिक है, जब कि प्रकृत जगत् के अनुकरण से कलाकृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्य कृत्रिम है। मनुष्य बाह्य प्रकृति में अपनी अन्तःप्रकृति का सदृश प्रतिबिम्ब खोजता रहता है और वह साक्षात्कृत मनोरम दृश्य की अर्थात् हृदयग्राही सौन्दर्य की निजी कलाकृतियों में पुनः सर्जना करता है। किसी कलाकृति के सम्पूर्ण अवयवों के यथोचित सन्निवेश को सौन्दर्य कहते हैं।[1] कलाकृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्य, मनुष्य द्वारा आस्वादित न होने पर, निस्सार एवं निरर्थक कहा जा सकता है। अतः कला विषयक सौन्दर्य का सम्बन्ध सौन्दर्योपभोक्ता से भी है। संक्षेप में, कलागत सौन्दर्य विषय और विषयी दोनों से सम्बन्धित है।

जिन कलाकृतियों को हम सुन्दर कहते हैं, वास्तव में उनका ऐन्द्रिक संवेदन, अभिरुचि का वाहक होने के कारण प्रिय होता है। कलाकृतियों का यही प्रेय पक्ष सौन्दर्य है। 'सौन्दर्य' शब्द संज्ञा है और 'सुन्दर' शब्द विशेषण। विशेषण में विशिष्टता-बोधक लक्षण होते हैं, जिसके कारण 'सुन्दर' शब्द अनेक पर्यायवाची रूपों में प्रचलित है।[2] किसी कलाकृति के सभी 'सुन्दर' स्थानीय पर्याय उसके रूप पक्ष या विषय पक्ष के विशेषण होते हैं। अतएव किसी कृति के रूप की भाषा को व्यक्त करने वाली जो रचनात्मक

---

१. 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' श्लोक १३३, पृष्ठ १८९

२. 'अमरकोश' पृष्ठ ४६४

किया है, उसे हम कला कह सकते हैं । रूप या सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही तो कला है । अभिव्यक्त कला के आस्वादन को कलानुभूति कहते हैं । कला-मीमांसा में कलाकार, कलाकृति और कलारसिक तीनों का अपना--अपना अस्तित्व है ।

कला, कलाकार की कर्तृशक्ति को कृति रूप में व्यक्त करने वाली रचना-कुशलता है । कला अभिव्यक्ति है । कला एक ओर प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुकृति है तो दूसरी ओर तद्विषयक अभिव्यक्ति ! कला के माध्यम से मनुष्य के विविध अनुभवों एवं संस्कारों का सम्प्रेषण सम्भव है । ऐन्द्रिक संवेदनों तथा आत्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिये सौन्दर्यप्रिय मानव ने ललित कलाओं की सृष्टि की । कला का लक्ष्य सौन्दर्यप्रेमी मानव को उसकी अभि-रुचि के अनुकूल आनन्दित करना है, जिसके लिये व्यावहारिक कुशलता की नितान्त अपेक्षा रहती है । कलाकार अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा किसी कलाकृति को सौन्दर्य–मण्डित करता है । रचनात्मक प्रतिभा का तात्पर्य रचनात्मक क्रिया–कौशल से है ।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि कला का ध्येय रंजकता का सम्पादन करना है, उपयोगिता का नहीं । इसीलिये कलाओं का द्विधा वर्गीकरण किया गया है–उपयोगी कलायें और ललित कलायें । मनुष्य की सौन्दर्यप्रियता की तुष्टि ललित कलाओं से होती है । इनकी संख्या ५ है--भवननिर्माणकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला । इन ललित कलाओं की सौन्दर्य–मीमांसा मूलतः सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों और तत्त्वों पर अवलम्बित है ।

यद्यपि सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में, जीवन और जगत् के सभी सौन्दर्य-व्यापार समाहित हो जाते हैं, तथापि उसका प्रतिपाद्य विषय ललित कलाकृतियों का सौन्दर्य-चिंतन ही है। सौन्दर्यशास्त्र, ललित कलाकृतियों में अभिव्यक्त होने वाले सौन्दर्य का दार्शनिक चिंतन है । इस दृष्टि से, सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन की ही एक शाखा मानते हैं । सौन्दर्यशास्त्र की मूलभूत ४ विशिष्टतायें हैं—

(१) सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाकृतियों के विषय–वस्तु (content) और विषय-स्वरूप (form) से उन्मीलित होने वाले सौन्दर्य का विषय है;

(२) सौन्दर्यशास्त्र कलाकृतियों के सौन्दर्य का विश्लेषण करने के कारण विज्ञान है;

(३) सौन्दर्यशास्त्र, ललित कलाकृतियों के सौन्दर्य का विचारात्मक चिंतन करने के कारण दर्शन है; और

(४) सौन्दर्यशास्त्र, कलाकृतियों में व्यक्त सौन्दर्य की व्याख्या करने वाला शास्त्र है ।

सौन्दर्यशास्त्र को ललित कलाओं के सौन्दर्य का विज्ञान और दर्शन मानने वालों में रामास्वामी शास्त्री,[१] कान्तिचंद्र पाण्डेय[२] आदि का नाम लिया जा सकता है । सौन्दर्यशास्त्र को ललित कलाओं के सौन्दर्य का शास्त्र मानने वालों में हरद्वारीलाल शर्मा[३] कुमार विमल[४] आदि का उल्लेख किया जा सकता है । वास्तव में, सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाकृतियों के सौन्दर्य-चिंतन का सैद्धान्तिक विवेचन करने वाला 'शास्त्र' है । सौन्दर्यशास्त्र को शास्त्र मानने वाले सौन्दर्यसमीक्षकों की संख्या अधिक है । प्रस्तुत शोधकार्य सौन्दर्यशास्त्र को 'शास्त्र' मानकर ही अग्रसर हुआ है ।

सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा और उसके तत्त्व—सभी कलायें मानव—मन की रचनायें हैं । प्रत्येक कलाकार का मन भौतिक सत्य का अनुकरण करते हुए उसे काल्पनिक सत्य के रूप में अभिव्यक्त करता है । कलाकृतियों में काल्पनिक सत्य का सन्निवेश करके 'शिवं' और 'सुन्दरं' के साथ उसे कलाप्रशंसक तक सम्प्रेषित किया जाता है । कलाकार का सम्पूर्ण कला—संदेश दो रूपों या आधारों में अभिव्यक्त और सम्प्रेष्य बनता है । ये आधार हैं—विषय-वस्तु और विषय-स्वरूप । अँग्रेजी में इन्हें 'कन्टेन्ट' (content) और फार्म form) कहते हैं । क्रोचे के मत में, इन दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत विवादास्पद है ।[५] उनके अनुसार कला की विषय-वस्तु वह है जो विषय-स्वरूप में रूपान्तरित हो ।[६] अपनी भाषा में हम विषय-वस्तु को कला का अनुभूतिपक्ष कह सकते हैं और विषय-स्वरूप को कला का अभिव्यक्तिपक्ष । साधारण शब्दों में, कलासमीक्षा में जिन तत्त्वों को अभिव्यक्त किया जाये, उन्हें विषय-वस्तु से सम्बन्धित मानेंगे और जो तत्त्व अभिव्यक्ति के माध्यम हैं उन्हें विषय—स्वरूप से सम्बन्धित । प्रथम वर्ग के तत्त्वों को कला के आत्म-संस्कार

---

१ 'Indian Aesthetics' page 1

२ 'Comparative Aesthetics vol. 1' introduction

३ 'सौन्दर्यशास्त्र' पृष्ठ १०

४ 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' पृष्ठ २०

५ 'Aesthetic' page 15

६ Ibid page 16

मान सकते हैं और द्वितीय वर्ग के तत्वों को कला के शारीरिक अवयव या विकार। कला आत्मा के संस्कारजन्य प्रभावों को शारीरिक रूप में अर्थात् मूर्तरूप में अभिव्यक्त करती है कलाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से कलाकृतियों की सौन्दर्य-समीक्षा में प्रवृत होता है। सौन्दर्यशास्त्र के ये तत्त्व इस प्रकार हैं—

(अ) विषय-वस्तु से सम्बद्ध—सुन्दरता, कल्पना, प्रतीक और बिम्ब

(ब) विषय-स्वरूप से सम्बद्ध --अलंकार, शैली और औचित्य

सौन्दर्यसमीक्षकों ने प्रायः प्रथम वर्ग से सम्बन्धित तत्त्वों की सैद्धान्तिक समीक्षा करने में ही विशेष रुचि ली है और उन्हीं के आधार पर कलाकृतियों की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की है। उदाहरणार्थ-डा० कुमार विमल ने एक ओर इन तत्त्वों की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए और दूसरी ओर इन तत्त्वों की व्यावहारिक पीठिका प्रस्तुत करते हुए, डी० लिट० शोध-विषय का समापन किया है। पाश्चात्य सौन्दर्यमीमांसकों ने तो इन सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों की व्याख्या-हेतु अगणित ग्रन्थ लिखे हैं।

पाश्चात्य साहित्य में, कला के विषय-स्वरूप से सम्बन्धित अलंकार शैली और औचित्य तत्त्वों पर पृथक् रूप से उतने ग्रन्थ नहीं लिखे गये। इन सब की एकत्र समीक्षा के लिये वहाँ एक अन्य शास्त्र है - रेटरिक्स (Rhetorics)। भारतीय साहित्य में इसे 'अलंकारशास्त्र' नाम दिया जा सकता है। जार्ज सन्तायना के अनुसार विषय-स्वरूप के माध्यम से कला का मूल अभिप्राय समझाया जा सकता है। अतः शैली-विधान को समझे बिना कलाकृति का अभीष्ट अर्थ-बोध नहीं हो सकता।[१] कलारसिक के समक्ष बिना आकार-प्रकार वाली कलाकृति अपने अर्थ-बोध को कभी साकार नहीं कर सकती। 'अलंकार' के संदर्भ में सन्तायना का विचार है कि विषय-स्वरूप के सौन्दर्यपरक अस्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिये तथा उसकी रूपाकृतियों को रंजक भावनाओं से आदर्शीकृत करने के लिये 'अलंकार' तत्त्व का अनेकशः विभाजन किया जाता है।[२] क्रोचे ने भी अपने 'एस्थिटिक' ग्रन्थ में अलंकार[3] और शैली[४] तत्त्वों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'औचित्य' तत्त्व का सम्बन्ध भी विषय-स्वरूप से है, क्योंकि औचित्य-निर्वाह के बिना कलाकृति दूषित हो जाती है।

---

१. 'The sense of beauty' page 105

२. Ibid, page 117- 'The ornament is distributed so as to emphasize the aesthetic essence of the form......"

३+४. 'Aesthetic' page 422-435 and 459-474

वास्तव में, कला की अनुचित अभिव्यक्ति में सरसता कहाँ? संक्षेप में, सभी कलाएँ विषय-वस्तु और विषय-स्वरूप के द्वारा अस्तित्व में आती हैं। कला प्रभावों की अभिव्यक्ति है। कलागत सौन्दर्यानुभूति की तात्त्विक व्याख्या के लिये यह आवश्यक है कि कलाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित विषय-वस्तु एवं विषय-स्वरूप के तत्त्वों का पृथक्-पृथक् अनुशीलन किया जाये। सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा के ये ही मानदण्ड और तत्त्व हैं—सुन्दरता या सरसता, कल्पना या प्रतिभा, प्रतीक या संकेत, बिम्ब या रूप, अलंकार या सजावट, शैली या वृत्ति और औचित्य। अंग्रेजी में इन्हें क्रमशः ब्यूटी (Beauty), इमेजिनेशन (Imagination), सिम्बल (symbol), इमेजरी (Imagery), आर्नामिन्टेशन (Ornamentation), स्टाइल (Style), और एप्रोप्रिएटनेस (Appropriateness) कहते हैं। ये सभी तत्त्व मिलकर हमारी सौन्दर्यानुभूति का परिपोषण करते हैं। इनके द्वारा कला-कृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्य आस्वाद्य होकर कलाप्रेमियों की अभिरुचि का विषय बनता है। अन्य कलाओं की भाँति, संगीतकला की रचनात्मक प्रक्रिया भी इन्हीं तत्त्वों के संयोजन से सौन्दर्यमयी बनकर आस्वादनीय हो जाती है।

संगीतकला का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि संगीतकला क्या है? अन्य कलाओं से यह किस प्रकार भिन्न है? इन प्रश्नों का समाधान किये बिना, संगीतकला को सौन्दर्य शास्त्र के सन्दर्भ में भलीभाँति नहीं समझा जा सकता।

जीवन और जगत् के प्रत्येक क्रिया-कलाप में नाद-सौन्दर्य का प्रभुत्व किसी न किसी प्रकार से, व्याप्त है। पक्षियों के 'कलरव' में, वृक्षों के 'मर-मर' में सरिता के 'कलकल' में एक अपूर्व ध्वन्यात्मकता श्रवणगोचर होती है। सौन्दर्यप्रेमी मानव ने विश्व-व्याप्त नैसर्गिक संगीत के अनुरूप अपने कृत्रिम संगीत की रचना की। इस कृत्रिम संगीत के रचनात्मक शिल्प-विधान को संगीतकला कहते है। संगीतकला सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप में प्रस्तुत होने वाली वह परचित्तानुरंजिनी कला है जिसके अन्तर्गत उद्भिन्न ध्वनियों के द्वारा निष्पन्न नाद-सौन्दर्य संगीतकार के श्रवणसुखद भावों को, संवेदना से, संगीतश्रोताओं के समक्ष उन्मीलित कर देता है। ऐसी दशा में, सहृदय नाद-सौन्दर्य की बिम्बात्मक अनुभूति करने लगते हैं।

भारतीय संगीतकला में एतदर्थ सप्त स्वर नियत हैं, जिनके नादत्व को मुख से, वाद्य से एवं चरण-ताल से उत्पन्न किया जा सकता है। अतः इस सप्त स्वराश्रित संगीतकला के अंतर्गत मौखिक संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत—तीनों विधाओं का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार भारतोय संगीतकला की सीमा में ये कलायें चिरकाल से प्रतिष्ठित हैं—गायनकला, वाद्यकला और नृत्यकला। संगीतरत्नाकर[१] संगीतपारिजात[२] आदि ग्रंथों में गीत, वाद्य और नृत्य के संयोग को 'संगीत' नाम दिया गया है। भारतीय संगीतकला गीत, वाद्य और नृत्य की त्रिवेणी है। भारतीय नाट्यकला भी संगीतप्रधान रही है। गीत, वाद्य एवं नृत्य कलात्रयी के कारण नाट्य के लिये 'तौर्यत्रिक' संज्ञा का प्रयोग होता आया है।[३] कुछ रूपक-उपरूपकों के लिए 'संगीतक' अभिधान भी प्रचलित रहा है।[४] नाट्यशास्त्र में मौखिक संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत का विशद विवेचन हुआ है। नाट्यकला, क्योंकि दृश्य होने के साथ-साथ श्रव्य भी है, अतः संगीतकला को समझे बिना वाचिक अभिनय से सम्बद्ध बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान आदि को यथोचित प्रकार से नहीं समझा जा सकता। संगीतकला की भाँति नाट्यकला के अधिकांश व्यापार श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य होने से पाठ्यसंगीत के सिद्धांन्तों की नितान्त अपेक्षा रखते हैं। यदि संगीतकला में गेय संगीत का अस्तित्व है तो नाट्यकला में पाठ्यसंगीत का। नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है कि गान के बिना नाट्य रागपरक नहीं हो सकता।[५] उन्होंने गायनकला[६] और वाद्यकला[७] दोनों को ही नाट्यकला की शैय्या कहकर सम्मानित किया है।

संगीतकला के कुछ तत्त्व कवि की साहित्यिक रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं। काव्यकला से सम्बन्धित छन्द-विधान वस्तुतः संगीतकला की स्पष्ट स्वीकृति है। संगीत और काव्य सरस्वती के स्तनद्वय हैं। 'गीतकाव्य' और 'गीतकार' नामों से तो सभी परिचित हैं। जयदेव ने संस्कृत साहित्य में और सूर ने हिन्दी साहित्य में अपने संगीतमय पद्यों से ही विशद कीर्ति अर्जित की है। काव्य प्रायः सस्वर पढ़े जाते रहे हैं। स्वरविधानपूर्वक पढ़ी गई कविता श्रोता-समाज को सहज भाव से आकर्षित कर लेती है।

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १।१।२१, पृष्ठ १३
२. 'संगीतपारिजात' श्लोक २०, पृष्ठ ६
३अ. 'उत्तररामचरित' अंक ४, पृष्ठ २४४– भरत मुनि को तौर्यत्रिक सूत्रधार कहा गया है।
ब. 'अमरकोश' १।७।१०, पृष्ठ ६७
४. 'मालतीमाधव' प्रथम अंक, पृष्ठ १४
५. 'नाट्यशास्त्र भाग ४'३२/४२५, पृष्ठ ३८९
६. वही, ३२।४३६, पृष्ठ ३९२
७. वही, ३४।२४६, पृष्ठ ४९३

इतना होते हुए भी संगीतकला के गेय संगीत में और काव्यकला के पाठ्य संगीत में अन्तर है। संगीतकला मूलतः ध्वनिप्रधान है, जब कि काव्यकला शब्दप्रधान । काव्यकला में शब्दों के अर्थ पर अधिक ध्यान दिया जाता है, नाद–सौन्दर्य पर कम। संगीतकला में स्वरों के नाद-बोध पर जितना ध्यान केन्द्रित किया जाता है उतना ध्वनियों के साहित्यिक अर्थ-बोध पर नहीं। किसी कविता को छन्द-योजना से वार्णिक और मात्रिक रूपों में नियमित या संतुलित कर कवि लोग सरस नाद-प्रभाव को जन्म देते हैं, जिससे उनका काव्य सार्वजनीन एवं सर्वग्राह्य बन जाता है।

इस प्रकार संगीतकला का प्रभाव नाट्यकला, काव्यकला दोनों कलाओं पर निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, संगीतकला का सम्बन्ध भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, छन्दशास्त्र, आध्यात्मशास्त्र आदि विषयों से भी है। संगीतकला में मुखावयवों एवं वाद्य यन्त्रों से उत्पन्न ध्वनि--लहरों और ध्वनि--तरंगों की भी समीक्षा होती है, जिसका प्रायोगिक विश्लेषण भौतिकविज्ञान से ही सम्भव है। शरीरविज्ञान का मुख्य कार्य मनुष्य के मुख, कान आदि शरीरावयवों की रचना-प्रणाली का अध्ययन करना है, जिनसे उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण ध्वनियाँ संगीतात्मक नाद को अलंकृत करती हैं। मनोविज्ञान के द्वारा संगीतकला से सम्बन्धित अनेक घटकों का अध्ययन किया जाता है, जैसे संगीतात्मक अनुभूति, संगीतात्मक प्रतिभा, संगीतात्मक संवेदनायें, संगीतात्मक भावों एवं विचारों का बोध–स्वरूप, संगीतात्मक अभिरुचि इत्यादि। संगीत के परम्परागत इतिहास का, संगीत के उत्पत्ति–सिद्धान्त का, वाद्ययन्त्रों के क्रमबद्ध विकास एवं प्रचलन का तथा संगीतविषयक संस्कृति का अध्ययन मानवविज्ञान की परिधि में आता है। मानवविज्ञान के इस कार्य में पुरातत्त्वशास्त्र अपना अमूल्य सहयोग देता है। विविध गीतों की पद-योजना को मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों से नियमित कर स्वरविधानपूर्वक गेय बनाया जाता है, जिससे कि अपूर्व नादात्मक प्रभाव श्रवणगोचर हो सके। छन्दशास्त्र इसी रूप में संगीतकला की प्रभविष्णुता बढ़ाता है। भारतीय संगीत रहस्यवादी भावना तथा ईश्वरीय प्रभुता का प्रतीक बन कर भजन, आराधना आदि दैनिक जीवन-व्यापारों में प्रतिष्ठित हो गया है–इसीलिये संगीतकला का सम्बन्ध आध्यात्मशास्त्र से भी है।

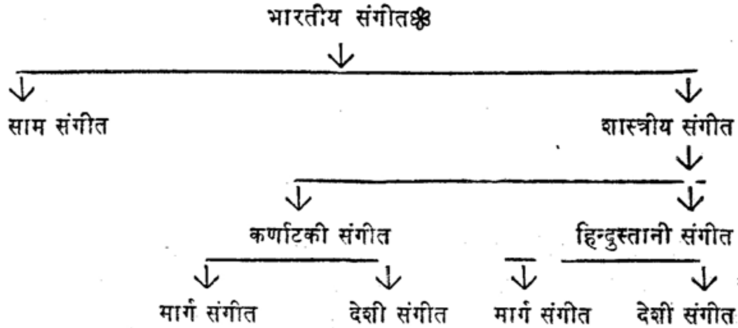
मेरा उद्देश्य उक्त विषयों के सन्दर्भ में संगीतकला की समीक्षा करना कदापि नहीं। प्रस्तुत शोधकार्य में संगीतकला का केवल सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन करना अभीष्ट है। 'सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन का अभिप्राय

यही है कि किसी कलाकृति के अभिव्यक्ति पक्ष और अनुभूति पक्ष को सर्वांग सुन्दर बनाने वाले उन मानदण्डों का सिद्धान्ततः व व्यवहारतः आकलन हो जो सौन्दर्य-मीमांसा के लिये अपेक्षित विषय–वस्तु (Content) और विषय-स्वरूप (Form) आधारों से सम्बद्ध माने गये हैं। संगीतकला के सुन्दर, सरस, आकर्षक, रंजक, ललित, प्रभविष्णु होने में सर्वत्र एक ही रहस्य अनुस्यूत है कि संगीतकला के विविध उपादान सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों के सच्चे प्रतिनिध बनकर, विषय और विषयी की दृष्टि से क्रमशः सौन्दर्याभिव्यक्ति और सौन्दर्यानुभूति में उत्प्रेरक सिद्ध हों।

सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्व और संगीतकला—संगीतकला का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन संगीत-रचना पर निर्भर है। संगीत-रचना का प्रस्तुतीकरण जितना ही प्रयोगसम्मत होगा उसका नादात्मक प्रभाव श्रवणोन्द्रिय-सन्निकर्ष से उतना ही निरन्तर अनुभूत हो सकेगा। संगीतकला में 'सौन्दर्य' का सम्बन्ध स्वरों के 'नाद-सौन्दर्य' से है; 'कल्पना' का सम्बन्ध संगीतात्मक प्रतिभा या कौशल से है; 'प्रतीक' का सम्बन्ध श्रुतियुक्त स्वरों के सांकेतिक ध्वनन से है; 'बिम्ब' का सम्बन्ध तथाविध स्वरों से निष्पन्न होने वाले रागों से हैं; 'शैली' का सम्बन्ध संगीतवृत्तियों से है; 'अलंकार' का सम्बन्ध 'गीतालंकार' से है और 'औचित्य' का सम्बन्ध संगीत के औचित्य-विधान (निर्दोष होने व सगुण होने) से है। इन्हीं सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों का अपने-अपने प्रकरण के अनुसार संगीतकला के विविध सन्दर्भों में विशद विवेचन किया जायेगा।

भारतीय संगीतकला के सौन्दर्यशास्त्रीय इतिहास का अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल से अक्षुण्ण चला आ रहा है। अनेक संगीतसमीक्षकों ने वेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य इत्यादि साधनों से भारतीय संगीतकला की प्राचीनता सिद्ध कर दी है। मेरा लक्ष्य नाट्यशास्त्र और तदाश्रित संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रकाश में संगीतकला की सौन्दर्यशास्त्रीय उपलब्धियों का उद्घाटन करना है। संगीत–शास्त्र का इतिहास लिखना मेरा प्रतिपाद्य विषय नहीं।

यहाँ इतना निर्देश कर देना आवश्यक है कि कर्नाटकी संगीत या दक्षिणी संगीत तथा हिन्दुस्तानी संगीत या उत्तरी संगीत का पृथक्–पृथक विवेचन करना अभीष्ट नहीं, क्योंकि 'शास्त्रीय संगीत की सीमा में इन दोनों संगीत–प्रणालियों के 'मार्ग' स्वरूप को ही निरूपित किया जायेगा, 'देशी' स्वरूप को नहीं। संक्षेप में, प्रस्तुत शोध कार्य का सम्बन्ध विशुद्ध शास्त्रीय संगीत से है, साम संगीत, लोक संगीत इत्यादि से नहीं। भारतीय संगीतकला का अद्यतन स्वरूप इस प्रकार है —



❀संस्कृत वाङ्मय में संगीत के लिये 'गीत' शब्द भी प्रचलित रहा है। 'प्रबन्धकोश' पृष्ठ २८; 'ललितविस्तर' पृष्ठ १०८; 'कामसूत्र' पृष्ठ ८७; 'नाट्यशास्त्र भाग १' पृष्ठ १४ में 'संगीत' के लिये 'गीत' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। 'गीत' शब्द का प्रयोग 'गान' और 'संगीत' दोनों सन्दर्भों में किया जायेगा। 'गीत' शब्द का अर्थ प्रसंगानुसार समझा जाये जिससे कि अर्थ का अनर्थ न हो।

द्वितीय अध्याय

प्रतीक—विधान

नादात्मक वातावरण में जीवन और जगत् के सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार सम्पन्न हो रहे हैं। दृश्यमान संसार को हम ध्वनियों का संसार कह सकते हैं। पशु अपना सुख-दुख ध्वनियों के विशेष प्रस्फुटन द्वारा व्यक्त करते हैं। वाद्य यन्त्रों से उत्पन्न ध्वनियों को सुनकर हम अपने हस्त-चरण की प्रहरण-क्रिया द्वारा तदनुरूप ताल देने लगते हैं। श्रोता दूर पर ध्वनित हुए घण्टे की ध्वनि को तुरन्त पहचान लेता है। मौखिक और वाद्यसंगीत से उत्पन्न विलक्षण नाद-प्रभाव हमें भाव--विभोर कर देता है। पशु, पक्षी, मनुष्य सभी जीवधारी प्राणी ध्वनियों के द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति करते हैं। पशु, पक्षियों की नादात्मक अभिव्यक्ति का अनुकरण करते हुए मानव ने स्वयं संगीतकला के सप्त स्वरों की कल्पना की, जिनके माध्यम से वह भी अपने भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने लगा।

ऋग्वेद में पक्षियों के 'कलरव' की उपमा उद्गाता के सामगान से की गई है।[१] 'संगीतमकरन्द' के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों के अनुरणन को क्रमशः मयूर, चातक, अजा, क्रौंच, कोकिल, अश्व और गज द्वारा उच्चार्यमाण ध्वनियों के सदृश बतलाया गया है-- अर्थात् ये पशु-पक्षी इन-इन स्वरों के अनुरणन के समान ध्वनि करते हुये बोलते हैं।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संगीत में प्रत्येक स्वर-ध्वनि का कोई न कोई निश्चित ध्वनि-स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संगीतकला का प्रत्येक स्वर बाह्य जगत् के पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण करता हुआ अपना स्पष्ट आत्म-परिचय देता है। भारतीय संगीतकार पशु, पक्षी आदि की ध्वनियों में संगीतकला के अनुरणनात्मक नाद की कुछ न कुछ समानतायें अनुभव करता रहा है। संगीतकला का प्रत्येक स्वर बाह्य प्रकृति की ध्वनियों से कुछ न कुछ निश्चित सम्बन्ध रखता है, फलस्वरूप प्रत्येक

---

१. 'ऋग्वेदसंहिता भाग२' २।४३।२, पृष्ठ १७५—"उद्गातेव शकुने साम गायसि"

२. 'संगीतमकरन्द' संगीताध्याय। प्रथम पाद। श्लोक १३—१४, पृष्ठ २

स्वर को भलीभाँति पहिचाना जा सकता है। संगीतकार अपने जिस मानसगत नाद-प्रभाव को स्वर-गुम्फन में सन्निविष्ट करता है उसे अपने प्रामाणिक अस्तित्व के लिये, अभिव्यक्ति के पूर्व, किसी भौतिक नाद-विषय का तादात्म्यमूलक अनुकरण करना पड़ता है ।

जिस प्रकार काव्यकला शब्दों से, नाट्यकला अभिनय से, चित्रकला रंगीन दृश्यों से, मूर्तिकला आकृतियों से तथा वास्तुकला बनावट से अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करती है, उसी प्रकार संगीतकला भी स्वरों से अपने अभिप्राय को अभिव्यंजित करती है । संगीतकला के स्वर चाक्षुष प्रतीक न होकर श्रावणिक प्रतीक होते हैं । नेत्रविहीन व्यक्ति कानों से सुनी गई ध्वनियों के अनुसार ही स्थान, समय, व्यक्ति और तद्विषयक व्यापारों को अनुमानतः पहिचानने में समर्थ होता है । यद्यपि नाद-बोध का उत्तरदायित्व श्रवणेन्द्रिय पर और रूप-बोध का उत्तरदायित्व नेत्रेन्द्रिय पर निर्भर है, तथापि श्रवणेन्द्रिय अपने कर्त्तव्य के साथ-साथ नेत्रेन्द्रिय के कर्त्तव्य का भी पालन करती है । उदाहरणार्थ-पृथ्वीराज चौहान ने अन्धे होने पर भी घण्टाओं के निनाद को श्रवणेन्द्रिय से भलीभाँति ग्रहण करते हुए, मुहम्मदगोरी की आवाज, सिंहासन के स्थान और घण्टे की निनाद-अवधि का अनुमान करते हुए शब्दभेदी बाण छोड़ कर उसका वध किया । इस प्रसंग में, श्रवणेन्द्रिय ने स्पष्ट रूप से दो भूमिकायें अभिनीत की हैं ।

शब्द किसी वस्तु से सम्बन्धित संकेत होते हैं । चित्र किसी वस्तु के मूर्तमान दृश्य होते हैं । अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम भी, किसी न किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हुये उसका स्वरूप उद्घाटित करते हैं । परन्तु संगीतकला के सप्त स्वर किसी वस्तु का संकेत नहीं करते—किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते । यह अवश्य है कि विविध स्वरों के नाद-समूह मिलकर किसी ध्वनिमय वस्तु या दृश्य को बिम्बित करने में तत्पर हुआ करते हैं-जैसे जंगल के कोलाहलमय दृश्य को अनुरणनात्मक निनाद द्वारा प्रस्तुत करना । प्रत्येक स्वर बाह्य वायुमण्डल में गूँजता हुआ अपने किसी विशेष ध्वनि-स्वरूप में श्रवणगोचर होता है । इसी से पशु-पक्षियों की ध्वनियों के अनुरूप अनुरणित होने वाले स्वर श्रावणिक प्रतीक कहलाते हैं । 'मैं संगीत सुनता हूँ' का अर्थ है 'मैं स्वरों का अनुरणन सुनता हूँ' । वायु की 'सनसन' ध्वनि, वर्षा की 'रिमझिम' ध्वनि संगीत-रचना में स्वरविधानपूर्वक निरूपित की जा सकती हैं । अतएव संगीतकला में प्रतीक-विधान का तात्पर्य भावाभिव्यंजक स्वर-विधान से है । स्वर अपनी विशेष ध्वनि के कारण एक निश्चित भाव-बिम्ब की सृष्टि

करने में सक्षम होते हैं, जिनके श्रवणगोचर होते ही संगीतश्रोताओं को प्रयुज्यमान नाद-विषय की प्रतीति होने लगती है।

श्रुति और स्वर के सन्दर्भ में प्रतीक-विधान—"श्रूयन्ते इति श्रुतयः" अर्थात् जो ध्वनियाँ सुनी जाती हैं वे श्रुति कहलाती हैं।[1] श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण की जाने वाली ध्वनि श्रवणत्व के कारण श्रुति कही जाती है, जो स्वर से उसी प्रकार अभिन्न होती है, जिस प्रकार सर्प और उसकी कुण्डली।[2] ध्वनि की अनेक श्रवणगोचर इकाइयो के कारण वैसे तो श्रुतियों की संख्या अनन्त हो सकती है, किन्तु संगीतकला के प्रतीक-विधान को समझाने के लिये परम्परागत २२ श्रुतियाँ ही पर्याप्त हैं। जिस प्रकार एक ध्वनिविशेष वायुमण्डल में विस्तीर्ण होकर अनन्त रूपों में व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार २२ श्रुतियाँ भी ध्वनित होकर अनन्त रूपों में विभक्त हो जाती हैं। ध्यान रहे कि उनका मूल स्वरूप नहीं बदलता, जैसे रेडियो से सुने जाने वाले संगीत का नादात्मक स्वरूप मूलतः अपरिवर्तनशील रहने के कारण सभी स्थानो पर एक-सा ही श्रवणगोचर होता है।

सभी श्रुतियाँ राग-विधान में स्वरत्व रूप को प्राप्त होती हैं। श्रुतियों के 'रागहेतुत्व' का संगीताचार्य भी प्रतिपादन करते हैं।[3] श्रुतियों से स्वर अस्तित्व में आते हैं।[4] श्रुतियों अर्थात् श्रूयमाण साधारण ध्वनियों के अनन्तर जो स्निग्ध व अनुरणनात्मक ध्वनि उद्भूत होती है, उसे स्वर कहते हैं। दूसरे शब्दों में, संगीतश्रोता के चित्त को स्वतः रंजित करने वाले अनुरणनात्मक नाद को स्वर कहते हैं।[5] चित्तानुरंजन में स्वर स्वतः समर्थ हैं अर्थात् स्वर ही किसी भौतिक ध्वनिविशेष के प्रतीक बन कर स्वतंत्र रूप से संगीत-रचना में व्यवहृत होते हैं संगीत-रचना में स्वयं सर्वत्र विराजमान रहने के कारण रागजनक ध्वनि को 'स्वर' नाम से प्रतिष्ठित करना भी साभिप्राय है। अतः स्वर का अर्थ रागजनक ध्वनि से है। षड्ज आदि सप्त स्वरों के समुचित विन्यास से 'राग' बनते हैं। ये स्वर स्वयं भावों एवं विचारों के प्रतीक बन कर संगीतश्रोता के मानस-पटल पर रागात्मक रूप में बिम्बित होने लगते हैं। संक्षेप में, प्रतीक-विधान की भूमिका श्रुतियुक्त स्वरों पर आधारित है।

---

१. 'बृहद्देशी' श्रुतिनिर्णय, पृष्ठ ४
२. 'संगीतपरिजात' श्लोक ३८, पृष्ठ १२
३. वही, श्लोक ३९, पृष्ठ १३
४. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १।३।२३, पृष्ठ ७८
५. 'बृहद्देशी' पृष्ठ १२

श्रुतियों के बिना स्वरों का निश्चित ध्वनि–स्वरूप नहीं बन सकता। इसी से श्रुति और स्वर का सम्बन्ध अभिन्न बतलाया गया है। श्रुति, और स्वर एकाकार होकर विविध रूपों में विविध रागों को जन्म देते हैं, जिससे संगीतकार के सम्प्रेषित भाव या विचार मनोरंजन के विषय बन जाते हैं। श्रुतियुक्त स्वर इस प्रक्रिया में रंजक ध्वनि अर्थात् राग के सृजन में प्रतीक का काम करते हैं। यह प्रक्रिया चक्राकार होती है–श्रुति→स्वर→राग→श्रुति→स्वर→राग···इत्यादि। स्वरों के संयोग से निष्पन्न होने वाले राग का अर्थ है–रंजक ध्वनि-समुदाय। राग के अन्तर्गत अनेक ध्वनियाँ सन्निहित रहती हैं, जिन्हें किसी रागालाप में स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है। संगीतकार और संगीतश्रोता इन अनन्त ध्वनियों को २२ ध्वनि-वर्गों में विभाजित कर रचित संगीत को समझने का प्रयास करते आये हैं। इन्हीं श्रूयमाण ध्वनियां को श्रुति कहते हैं, जिनकी परम्परागत संख्या २२ ही है। ये श्रुतियाँ, कारण-रूप में स्वर का स्वरूप निर्धारित करती हैं और कार्य-रूप में राग के अन्तर्गत अपने स्वरूप को प्रकट करती हैं। वास्तव में, श्रुतियाँ प्रतिभा के स्तर पर, संगीतकार और संगीतश्रोता का सहज पथ-निर्देश करती हैं ताकि स्वरों की प्रतीक–योजना को समझा जा सके।

संगीतकला में श्रुतियों का अभिप्राय आदिम और अन्तिम ध्वनियों से है। श्रुतियाँ आदिम ध्वनियों के रूप में स्वर-विधान को और अन्तिम ध्वनियों के रूप में राग–विधान को क्रमशः व्यंजित और अनुरंजित करती हैं। भारतीय संगीत–कला में, प्रतीक–विधान को समझने के लिये प्रत्येक स्वर की श्रुतियाँ निर्धारित कर दी गई हैं। 'संगीतपारिजात' के अनुसार तालिका दी जा रही है[1]—

क्रमांक	स्वर नाम	श्रुतियों की संख्या	श्रुतियों के नाम
१.	षड्ज	प्रत्येक स्वर की ४ श्रुतियाँ	तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती
२	मध्यम		वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी
३.	पंचम		क्षिती, रक्ता, संदीपिनी, आलापिनी
४.	ऋषभ	प्रत्येक स्वर की ३ श्रुतियाँ	दयावती, रंजनी, रक्तिका
५	धैवत		मदन्ती, रोहिणी, रम्या
६.	गांधार	प्रत्येक स्वर की २ श्रुतियाँ	रौद्री, क्रोधा
७.	निषाद		उग्रा, क्षोभिणी

१. 'संगीतपारिजात' श्लोक ४३–४६, पृष्ठ १३–१४.

इस प्रकार संगीतकला के प्रतीक-विधान का रहस्य ७ स्वर और २२ श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध में अन्तर्निहित है। प्रत्येक स्वर की श्रुतियाँ निर्धारित करने का एकमात्र प्रयोजन प्रतीक विधान की व्याख्या करना है। श्रुतियों और स्वरों के निश्चित सम्बन्ध से मूर्च्छनायें बनती हैं जो रागों में परिवर्तित हो जाती हैं। संगीतकला के सभी उपादानों का उद्गम येन–केन--प्रकारेण स्वरों से ही होता है। अतः स्वरों की प्रतीकात्मक भाषा संगीत–रचना के सभी उपादानों को आत्मसात् कर कर लेती है। गेय संगीत या वाद्य संगीत के नाद–बोध में श्रुतियुक्त स्वर परम सहायक सिद्ध होते हैं। किसी प्रकृतिगत नाद–विषए को संगीत–रचना में निरूपित करते समय ये श्रुतियुक्त स्वर प्रतीकीकरण की भूमिका निभाते हैं। 'नाद-विषय' की सीमा में वे सभी भाव, विचार, वस्तु, प्राणी आदि विषय आ जाते हैं जो नादाधीन होने पर स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त होने की अपेक्षा रखते हों। संगीत-रचना में अवतरित होने वाले स्वर का निश्चित ध्वनि-स्वरूप सदैव अपरिवर्तित रहता है, जिससे संगीत–विशारद प्रत्येक स्वर को प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक अवस्था में भलीभाँति अनुभव कर सकता है। स्वर अपने प्रतीकात्मक स्वरूप की प्रतीति कराने के लिये तीन मान्यताओं का अनावरण करते हैं — लय-ताल के अनुसार सामयिक होना, उच्चारण में उचितस्थानीय होना और संगीताभिव्यक्ति से लेकर संगीतानुभूति तक निरन्तर श्रवणगोचर या श्रावणिक होना। ससय, स्थान और पात्र के विचार से संगीत-रचना में घटित होने वाले स्वर स्वयं प्रतीक का उतरदायित्व निभाने लगते हैं। श्रुतियुक्त स्वरों का यही प्रामाणिक अस्तित्व संगीतकला को प्रभाव–शाली बनाता है। संक्षप मे, स्वरों की प्रतीकात्मक भाषा को समझे बिना, भारतीय संगीतकला के विविध मूल्यों का अन्वेषण करना सम्भव नहीं।

जिस प्रकार चेहरे से जीवन की चेतनता प्रकट होती है उसी प्रकार स्वरों से संगीत की प्रतीकता। यह प्रतीकता नाद–बोध के अन्तर्गत संगीत के अर्थ-बोध को भी तल्लीन किये रहती है। भावाभिव्यंजक स्वरों से सम्पादित किये गये संगीत को सुनकर संगीतश्रोताओं के सुषुप्त भाव स्वयं आन्दोलित हो उठते हैं। स्वर, क्योंकि श्रावणिक प्रतीक होते हैं, अतः वे अपने ध्वनि—स्वरूप के कारण वायुमण्डल में स्थान घेरते हैं। मुखावयवों एवं वाद्ययन्त्रों से उद्भिन्न होने वाले स्वर ध्वनि—तरंगों के माध्यम से नादात्मक वातावरण में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। यही ध्वनि–तरंगें कर्णगह्वर में प्रवेश कर हमारी संगीत--चेतना को जागृत कर देती हैं। ध्वनियाँ वायव्य स्पर्श के कारण, तरंगों के रूप में, श्रवण-प्रदेश में प्रवेश

करती हैं। जिस प्रकार सूक्ष्मतम कीटाणु आँखों से देखे अथवा समझे नहीं जा सकते, उसी प्रकार मन्दतम ध्वनियाँ कानों से सुनी अथवा समझी नहीं जा सकतीं। ये ध्वनियाँ स्वरों के ध्वनि–स्वरूप को संगठित किया करती हैं। अतः संगीत-रचना में जिन विविध ध्वनियों को हम सुनते हैं* वे स्वरों से भिन्न नहीं होतीं। ऐसी ध्वनियाँ स्वरों के ध्वनि-स्वरूप को निखारती हुईं अन्ततः संगीतात्मक नाद में पर्यवसित हुआ करती हैं।

संगीत–रचना में निरूपित किये जाने वाले भाव, विचार इत्यादि शब्दों के माध्यम से नहीं, अपितु स्वरों के माध्यम से नादात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। स्पष्ट है कि संगीतकला का प्रतीक-विधान अन्य कलाओं के प्रतीक – विधान से नितान्त भिन्न है। अन्य कलाओं के अभिव्यक्ति के माध्यम चाक्षुष होते हैं, जिससे वे भूमण्डल में स्थान घेरते हैं। संगीतकला के स्वर वायुमण्डल में स्थान घेरते हैं। स्वर भूमि पर नहीं बल्कि आकाश पर विचरण करते हैं। इन स्वरों को सुन तो सकते हैं किन्तु देख नहीं सकते। संगीतकला के स्वर श्रावणिक प्रतीक होने के कारण स्थान और समय की मर्यादाओं से निबद्ध नहीं होते। दूसरे शब्दों में, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, नाट्यकला के चाक्षुष प्रतीकों की भाँति संगीतकला के श्रावणिक प्रतीक स्थानसापेक्ष नहीं रहते। संगीतकला के श्रावणिक प्रतीक वायुमण्डल में गत्वर होने के कारण किसी स्थान विशेष तक ही स्थिर नहीं रहते। विश्व भर में व्याप्त होने वाले नाद की क्या कोई स्थानीय सीमा भी हो सकती है ?

निसर्ग ने ऐसा नादात्मक वातावरण प्रस्तुत किया है कि संगीतकार सात स्वरों से ही विविध नाद-विषयों की सार्वभौमिक अभिव्यक्ति कर सकता है। जिस प्रकार संसद–सदस्य जनता के प्रतिनिधि या प्रतीक बन कर संसद में भाग लेते हैं, उसी प्रकार स्वर नाद-विषय के प्रतिनिधि या प्रतीक बनकर सगीत–रचना में भाग लेते हैं। पुनः जिस प्रकार सदस्यगण जन-स्वार्थ के विविध साधनों को संस्तुत करते हुये शासन—विधान बनाते हैं, उसी प्रकार स्वरसमूह जन-रुचि के लिये विविध रागों को संस्तुत करते हुए प्रतीक-विधान बनाते हैं। वास्तव में, संगीतकला के स्वर श्रुतियों के सहयोग से विविध विषयों के प्रतीक या प्रतिनिधि बनते हैं। भारतीय संगीतकला में, प्रतीक-विधान से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्त हैं,

---

*'स्वर–व्यवस्था' में तीन प्रकार की ध्वनियाँ परिलक्षित हुआ करती हैं–जो मन्दतम होने के कारण सुनीं नहीं जा सकतीं, श्लिष्ट होने से समझी नहीं जा सकतीं और आकस्मिक होने से पुनः रचित नहीं की जा सकतीं।

जिनके द्वारा श्रुति एवं स्वर के पारस्परिक संयोग की तात्त्विक समीक्षा की गई है। ये सिद्धान्त संगीतकला के उन सभी मूल्यों का उद्घाटन करते हैं, जिन के लिये स्वर प्रतीक का काम करते हैं। श्रुति और स्वर के संयोग का बहुविध विवेचन करने वाले ये सिद्धान्त ५ हैं–तादात्म्य, विवर्तन, कारण, परिणमन और अभिव्यंजन सिद्धान्त।

१- तादात्म्य सिद्धान्त — आचार्य मतंग के अनुसार स्वर और श्रुति का तादात्म्य जाति और व्यक्ति की भाँति घटित होता है।[1] यही बात कल्लिनाथ भी दूसरी भाषा में प्रकट करते हैं।[2] जिस प्रकार व्यक्तियों से जातियाँ बनती हैं, उसीप्रकार श्रुतियों से स्वर निष्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में, स्वरों का जातित्व श्रुतियों के व्यक्तित्व पर निर्भर है। व्यक्तियों की समष्टि को जाति कहते हैं, उसीप्रकार श्रुतियों की समष्टि को स्वर कहते हैं। 'जाति–व्यक्ति' और 'स्वर–श्रुति' के तादात्म्य में मूल अन्तर यह है कि प्रथम के पारस्परिक सम्बन्ध में स्पर्श क्रिया परिलक्षित होती है और द्वितीय के पारस्परिक सम्बन्ध में नहीं। हम जानते ही हैं कि स्वर और श्रुति नाम की कोई वस्तुएँ नहीं होतीं। श्रुति और स्वर दोनों का अस्तित्व ध्वन्यात्मक होने के कारण उनके संयोग में स्पर्श क्रिया का अभाव होना स्वाभाविक है।[3]

श्रुतियों और स्वरों के अंकगणितीय सम्बन्ध का उल्लेख कर ही चुके हैं। अतः श्रुति और स्वर निश्चित अवस्था में परस्पर संयोग करके अभीष्ट विषय की नादात्मक प्रतीति कराने लगते हैं। यह संयोग तादात्म्यमूलक होता है। श्रुति और स्वर नीर–क्षीरवत् मिलकर एक हो जाते हैं। ४ श्रुति, ३ श्रुति और २ श्रुति वाले स्वर संगीत–रचना में आरोह–अवरोह के साथ अनुरणित होते हुए अपने जातित्व का बोध कराया करते हैं। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि उनका प्रतीकात्मक स्वरूप संगीत-रचना में सदैव परिलक्षित हुआ करता है। श्रुतियों का व्यक्तित्व स्वरों के जातित्व से अभिन्न तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिससे संगीतश्रोता को स्वर रूपी जाति ही श्रवणगोचर होती है। प्रदर्शन--काल में श्रुतियों की 'विशेषता' स्वरों की सामान्यता में पूर्णतया पर्यवसित हो जाती है। श्रुति और स्वर के निश्चित तादात्म्य से, संगीत–रचना में, प्रतीकीकरण की

१+३ 'बृहद्देशी' श्रुतिनिर्णय। श्लोक ३२, पृष्ठ ७ "स्वरश्रुत्योस्तु तादात्म्यं जातिव्यक्त्योरिवानयोः। विशेषस्पर्शशून्यत्वाच्छ्रवणेन्द्रियग्राह्यता॥"

२. 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ ७६ पर कल्लिनाथ की टीका

भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया जाता है ।

२—विवर्तन सिद्धान्त—मतंग के अनुसार, जिस प्रकार मुख दर्पण में विवर्तित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक स्वर श्रुतियों में विवर्तित होता है ।[१] तात्पर्य यह है कि श्रुतियों अर्थात् श्रूयमाण ध्वनियों के ध्वनन में स्वरों का अनुरणन सदैव तरंगित हुआ करता है । श्रुतियों के ध्वनन में स्वरों का अनुरणन उसी प्रकार श्रवणगोचर हुआ करता है, जिस प्रकार दर्पण के प्रतिबिम्ब में मुख का बिम्ब दृष्टिगोचर हुआ करता है। मतंग ने इसी प्रसंग में एक शंका उठाई है । उनके अनुसार विवर्तित स्वरों का ज्ञान वस्तुतः भ्रान्तिज्ञान है ।[२] मेरी समझ में ऐसी शंका करना उचित नहीं । रूपानुकृति के कारण, दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाला निर्जीव मुख भले ही भ्रान्तिज्ञान का विषय बने, किन्तु रूपानुकृति से उपेक्षित तथा श्रुतियों में विवर्तित होने वाला प्रत्येक स्वर भ्रान्तिज्ञान का विषय कदापि नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि मुख और दर्पण में द्रव्य-भेद से विजातीय सम्बन्ध है जब कि स्वरऔर श्रुति में गुण-भेद से सजातीय सम्बन्ध। स्वर और श्रुति दोनों का अस्तित्व नादात्मक है।

इस विवर्तन के प्रसंग में मुझे भवभूति के 'एको रसः करुण एव' श्लोक के विचार प्रभावित कर रहे हैं । स्वर और श्रुति का विवर्तन द्रष्टान्त जलाशय और जल-विकार (बुदबुद, तरंग इत्यादि) का विवर्तन द्रष्टान्त समझना चाहिये । प्रस्तुत द्रष्टान्त से यदि स्वर और श्रुति के संयोग की व्याख्या की जाये तो भ्रान्तिज्ञान का अन्यथाभाव हो जायेगा। नाद आध्यात्मिक जगत् में तथा भौतिक जगत् में विवर्तभाव से ही प्रकट होता है । अन्तर्जगत् में, नाभि-प्रदेश से उत्पन्न होने वाले, हृदय-प्रदेश से संचरण करने वाले और मुख--प्रदेश से व्यक्त होने वाले स्वर वस्तुतः उच्चार्यमाण ध्वनियों में विवर्तित होते हैं । भौतिक जगत् में स्वर, श्रुतियों या श्रूयमाण ध्वनियों में तो सर्वथा विवर्तित ही हुआ करते हैं । आचार्य रघुनाथभूपाल भी विवर्तभाव से चित् जगत् तथा जड़ जगत् में सर्वत्र व्याप्त हो रहे नाद-ब्रह्म के प्रति श्रद्धालु हैं।[३] अतः प्रतीक--विधान की व्याख्या में यह विवर्तन सिद्धान्त भी विषय--प्रतिपादन कि दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

---

१. 'बृहद्देशी' श्रुतिनिर्णय । श्लोक ३३, पृष्ठ ७ "नराणां च मुखं यद्वद्दर्पणे तु विर्वाततम् । प्रतिभाति स्वरस्तद्वच्छ्रुतिष्वेव विर्वाततः ।।"

२. वही, श्लोक ४०, पृष्ठ ८-"विवर्तत्वे स्वराणां हि भ्रान्तिज्ञानं प्रसज्यते ।।"

३. 'संगीतसुधा' श्लोक ९३, पृष्ठ १५

३—कारण सिद्धान्त—स्वर और श्रुति में कारण और कार्य जैसा संयोग घटित होता है। जिस प्रकार बिना कारण के कार्य प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार बिना स्वर के श्रुतियाँ प्रकट नहीं होतीं। कारण--कार्य की भाँति स्वर-श्रुति में पूर्वापर सम्बन्ध घटित होता है। आचार्य मतंग इस सिद्धान्त को यद्यपि स्पष्ट और स्फुट मानते हैं, तथापि सर्वांगीण नहीं मानते। इस सिद्धान्त की व्याख्या करने वालों में मतंग[१] कल्लिनाथ[२] वेंकटमखि[३] आदि आचार्य प्रमुख हैं। यह कारण सिद्धान्त अपने आप में भले पूर्ण न हो किन्तु इससे स्वर और श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध की पूर्वापर स्थिति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। स्वर और श्रुति में कारण--कार्य सम्बन्ध मानने का एक औचित्य यह भी है कि स्वर के अनुरणन में किञ्चित् परिवर्तन होते ही तत्सम्बन्धी श्रुतियाँ भी तुरन्त प्रभावित हो जाती हैं। स्वरों के परिवर्तन से श्रुतियों की रचनात्मक अंकगणित में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार मृत्पिण्ड, दण्ड आदि से घटित पदार्थ को घट का प्रतीक समझते हैं, उसी प्रकार विविध श्रुतियों से घटित निनाद को स्वर का प्रतीक समझते हैं। दूसरे शब्दों में, घट की कारण-रूपता जिस प्रकार मृत्पिण्ड, दण्ड, आदि की कार्य-रूपता से सम्बन्धित है, उसी प्रकार स्वर की कारणरूपता श्रुतियों की कार्यरूपता से सम्बन्धित है।[४] संक्षेप में, स्वर और श्रुति के परस्पर संयोग में कारण सिद्धान्त की भूमिका अवश्य घटती है।

४—परिणमन सिद्धान्त—आचार्य मतंग के अनुसार, जिस प्रकार क्षीर दधि—रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार श्रुतियाँ स्वर—रूप में परिणत होती हैं।[५] जिस प्रकार दूध के बिना दही की धारणा असंगत है, उसी प्रकार श्रुति के बिना स्वर की। आस्वादन में तरावट, ताजगी, चिकनाई आदि गुण दधि के होते हैं उसी प्रकार श्रवण-प्रीति, भाव-प्रतीति आदि लक्षण स्वर के होते हैं। जिस प्रकार दूध के बिना दधि का आविष्करण सम्भव नहीं, उसी प्रकार श्रुतियों के बिना स्वर का प्रतीकीकरण। स्वर रूपी दधि से ही राग रूपी घृत निकलता है, जिसके आस्वाद से सहृदय परम संतोष प्राप्त करते हैं।

१+४. 'बृहद्देशी' श्रुतिनिर्णय। श्लोक ३४, पृष्ठ ७

२. 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ ७६, कल्लिनाथ की टीका से

३. 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका प्रथम भाग' द्वितीय प्रकरण। श्लोक २, पृष्ठ १७

५. बृहद्देशी, श्लोक ३५, पृष्ठ ७– "श्रुतयः स्वररूपेण परिणमन्ति न संशयः। परिणमते यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वथा॥"

अतः तर्क की कसौटी पर यह सिद्धान्त खरा उतरता है। तभी आचार्य मतंग ने इस सिद्धान्त की आलोचना नहीं की है। इस सिद्धान्त को वस्तुतः अभिव्यंजन सिद्धान्त समझना चाहिये। रस-मीमांसा में साहित्याचार्य इस द्रष्टान्त को अभिव्यक्ति सिद्धान्त से सम्बद्ध दिखलाते हैं। साहित्यदर्पणकार का मत है कि प्रत्येक स्थायी भाव रस-रूप में उसी प्रकार परिणत हो जाया करता है, जिस प्रकार दुग्ध, दधि-रूप में।[1] अतः विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। संक्षेप में, जिस प्रकार दधि दूध से कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं अपितु दूध का ही एक द्रवविषयक अवस्थापरिणाम है, उसी प्रकार स्वर श्रुति से कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं अपितु श्रुति का ही एक ध्वनिविषयक रचनापरिणाम है।

५—अभिव्यंजन सिद्धान्त—आचार्य मतंग और कल्लिनाथ के अनुसार श्रुतियों के माध्यम से स्वर उसी प्रकार अभिव्यक्त हुआ करते हैं, जिस प्रकार प्रदीप के माध्यम से घट।[2] जिस प्रकार घट आदि को प्रकाशित करने का श्रेय प्रदीप को दिया जाता है, उसी प्रकार स्वर को प्रकाशित करने का श्रेय श्रुतियों को। श्रुतियों के सहभाव से उपेक्षित स्वर श्रवणेन्द्रिय से मूलतः असंवेद्य रहते हैं, जिससे ये किसी भाव या विचार के प्रतीक नहीं बन पाते। संगीतकार के अपने भाव तब तक स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं हो सकते, जब तक स्वर स्वयं श्रुतियों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं होते। श्रुतियों से अभिव्यक्त किये गये स्वरों के उचित सन्निवेश से अर्थात् स्वरनिष्पत्ति से नाद--सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। यदि नाद-सौन्दर्य की अनुभूति से संगीत--श्रोता की सुषुप्त भावनायें जागृत नहीं होतीं तो यह समझना चाहिये कि भावाभिव्यंजक स्वर श्रुतियों से भलीभाँति अभिव्यक्त नहीं हो सके हैं। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इस अभिव्यंजन सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश डाला है जिस पर आगे विचार करेंगे।

वास्तव में, स्वर और श्रुति का संयोग 'व्यंग्य—व्यंजक' जैसा है। संगीतकला के प्रतीक-विधान को समझने में यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। संगीतकार अपने नादात्मक प्रभावों को स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त ही तो करता है। संगीताभिव्यक्ति का तात्पर्य श्रुतियों से अभिव्यक्त

---

१. 'साहित्यदर्पण' तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ १००

२. 'बृहद्देशी' श्रुतिनिर्णय। श्लोक २६, पृष्ठ ८ तथा 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ ७९ पर कल्लिनाथ की टीका से।

होने वाले उन स्वरों से है जो संगीत–रचना में किसी नादात्मक भाव, विचार, प्राणी, वस्तु इत्यादि के प्रतीक बनते हैं। उन स्वरों को हम 'व्यंग्य' कैसे कह सकते हैं जो श्रुतियों से व्यंजित न होने पर किसी भी नाद–विषय को रागरूप में बिम्बित नहीं कर पाते ? गेय संगीत या वाद्य संगीत में ध्वनियों के द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जाता है, उसके मूल में स्वरों का अपना अस्तित्व होता है, जो अपनी ध्वनि-संहतियों अर्थात् श्रुतियों से व्यक्त होते हुये संगीत--रचना में किसी भाव या विचार के सच्चे प्रतीक या प्रतिनिधि बनते हैं।

संक्षेपतः संगीत--रचना में किसी नाद-विषय के प्रतीकीकरण-हेतु श्रुतियुक्त स्वरों का योग अपरिहार्य है। संगीत–रचना में 'प्रतीक' का तात्पर्य श्रुतियुक्त स्वरों से है, जिन्हें 'श्रावणिक प्रतीक' कहते हैं।

प्रतीक–विधान और पाश्चात्य मत—

भारतीय संगीतकला में प्रतीक–विधान श्रुतियुक्त स्वरों पर निर्भर है, जब कि पाश्चात्य संगीतकला में स्वर--संघात पर।[1] वहाँ उस स्वर को ही मूल स्वर या स्वरित मान लिया जाता है, जिस को आधार मान कर गीत एवं वाद्य की ध्वनियाँ उद्भिन्न होती हैं। वास्तव में, मौखिक संगीत या वाद्य संगीत से सम्बन्धित ऐसे स्वर को पहिचान लेना आसान नहीं। अतएव पाश्चात्य संगीत में 'श्रुति' नाम जैसी कोई चीज नहीं। वहाँ अकेले स्वर ही प्रतीक का काम करते हैं। भारतीय संगीतकला में स्वर श्रुतियों से परिनिष्ठित होकर ही किसी भाव या विचार के प्रतीक बनते हैं। पाश्चात्य संगीत की प्रतीकविषयक मान्यता भारतीय संगीत की प्रतीकविषयक परम्परा से मेल नहीं खाती। यद्यपि स्वर हमारे यहाँ भी प्रतीक माने गये हैं तथापि उनका अस्तित्व वस्तुतः श्रुतिसापेक्ष्य है। यहाँ श्रुति और स्वर की सम्मिलित अंकगणित साधारण संगीतश्रोता को भी मूल स्वर के प्रतीकात्मक स्वरूप से अवगत करा देती है। षड्ज और मध्यम ग्राम में श्रुति और स्वर का अंकगणितीय सम्बन्ध नियत है, जैसा कि पीछे तालिका देकर स्पष्ट कर चुके हैं। पाश्चात्य संगीत में 'श्रुति' जैसी कोई चीज न होने से स्वरों का पारस्परिक सम्बन्ध अस्पष्ट रहता है। इसके समर्थन में पाश्चात्य संगीतसमीक्षक जकरकैन्डल के विचार उद्धृत किये जा सकते हैं। उनके अनुसार 'पाश्चात्य संगीत से पूर्णतया अनभिज्ञ कोई चीनी और भारतीय संगीतश्रोता हमारे स्वरों की सार्थकता और निरर्थकता में उतना भेद नहीं कर सकता जितना कि

१. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ २०५

सुर-बधिर व्यक्ति' ।[1] इतना मतभेद होते हुए भी दोनों संगीतकलायें इस विचार से सहमत हैं कि स्वर ही प्रतीक का काम करते हैं।[2] प्रतीक-विधान के विषय में यदि किञ्चित् मतभेद मिलता भी है तो यह स्वाभाविक है। प्रत्येक देश की ललित कलाओं के कुछ न कुछ अपने सिद्धान्त होते हैं, जिनका समर्थन सर्वत्र नहीं मिल सकता ।

प्रतीक-विधान की व्यावहारिक पृष्ठभूमि—यहाँ तक श्रुतियुक्त स्वरों के सन्दर्भ में प्रतीक-विधान की सैद्धान्तिक समीक्षा की गई। अब यह जान लेना भी आवश्यक है कि श्रुतियुक्त स्वर प्रतीक-विधान के किस प्रयोजन को सिद्ध करते हैं ? इससे यह भी पता चल सकेगा कि स्वरों के द्वारा भाव-सम्प्रेषण की यह सांकेतिक योजना केवल सैद्धान्तिक व्याख्या मात्र बन कर तो नहीं रह गई है ? इन सभी समस्याओं पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है ।

(क) अशाब्दिक संगीत-ध्वनियों में भी भावाभिव्यंजकता होती है—यदि अशाब्दिक संगीत-ध्वनियों में भावाभिव्यंजकता का गुण न हो तो संगीत-श्रोता व्यर्थ में संगीत को क्यों सुने ? वह संगीत की स्वर-ध्वनियों के द्वारा सम्प्रेषित एक मर्मस्पर्शी सन्देश पाता है । अन्य संवेदनाओं की भाँति स्वराश्रित संवेदना भी संगीतकार के अनुभवों को संगीतश्रोता के समक्ष प्रकट कर पुनर्जीवित हो उठती है। संगीतश्रोता स्वरों के अनुरणन को सुन कर संवेदनशील हो उठता है। इस प्रसंग में, स्वर निश्चय ही संगीतकार के अनुभवों के प्रतीक बनकर श्रवणगोचर हुआ करते हैं। संगीत-रचना के समय स्वरों में सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतीक--विधान की ४ विशेषतायें परिलक्षित हुआ करती हैं।

१-स्वरों की विषयगत विशिष्टता- प्रत्येक स्वर का ध्वनि-समुच्चय विशेष प्रकार का हुआ करता है, यथा षड्ज स्वर का ध्वनि-स्वरूप मयूर की ध्वनि के सदृश, ऋषभ स्वर का ध्वनि--समुच्चय चातक की ध्वनि के सदृश इत्यादि। प्रत्येक स्वर की अपनी ध्वनिविषयक विशेषतायें होती हैं। इसी से, एक ओर संगीतकार किसी नाद--विषय का स्वरों के ध्वनि- समुच्चय से प्रतीकीकरण करता है तो दूसरी ओर संगीतश्रोता स्वरों के ध्वनि-स्वरूप से परिचित होने के

---

1. 'Sound And Symbol' page 64--"--a chinese, an Indian, totally unfamiliar with western music, can no more, distinguish between sense and non-sense in our tones that can the tune-deaf person......"
2. Ibid, page 69

कारण उन स्वरों का प्रतीकात्मक अभिप्राय समझना चलता है। अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी स्वर, किसी न किसी भाव के प्रतीक ही सिद्ध होते हैं।

२--स्वरों की शरीर को प्रभावित करने वाली विशेषता—प्रायः यह देखा जाता है कि लय--ताल से नियमित एवं आरोह--अवरोह से व्यवस्थित स्वरों के के द्वारा निष्पन्न नाद के साथ संगीतश्रोता हाथ, पैर, सिर आदि विविध अंग—विक्षेपों की गति का तादात्म्य स्थापित करते हुए भावमग्न हो जाते हैं। 'श्रावणिक प्रतीक' कहे जाने वाले स्वर न केवल श्रवणेन्द्रिय को ही प्रभावित करते हैं अपितु अन्य विविध अंगों को भी परिचालित करते हैं। नृत्य-संगीत तो इन प्रतीकों से ही अनुशासित होता है।

३-स्वरों की अनुभूतिगत विशेषता—प्रत्येक स्वर किसी न किसी स्थायी भाव या रस का प्रतीक होता है। भारतीय संगीतकला में षड्ज स्वर से अद्भुत और वीर रस, ऋषभ स्वर से रौद्र रस, गान्धार स्वर से शान्त रस, मध्यम स्वर से हास्य रस, पंचम स्वर से शृंगार रस, धैवत स्वर से वीभत्स और भयानक रस तथा निषाद स्वर से करुण रस का प्रतीक--विधान किया जाता है।[1] संगीतमकरन्दकार ने प्रत्येक स्वर से सम्बन्धित रस का स्पष्टतया उद्घाटन किया है किन्तु नाट्यशास्त्रकार ने इसी प्रसंग को संश्लिष्ट स्वरूप में विवेचित किया है। उनके अनुसार षड्ज एवं ऋषभ स्वर से वीर, रौद्र और अद्भुत रस का; मध्यम और पंचम स्वर से हास्य और शृंगार रस का; धैवत स्वर से वीभत्स और भयानक रस का; गांधार और निषाद स्वर से करुण रस का प्रतीकीकरण करते हुये तथाविध निष्पन्न नाद–सौन्दर्य से भाव-बोध कराया जाता है।[2] वैसे नव्य समीक्षा के अनुसार संगीतमकरन्दकार के द्वारा स्वरों के संदर्भ में की गई रस–मीमांसा अधिक स्पष्ट है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय संगीतकला में प्रत्येक स्वर किसी न किसी रस विशेष का प्रतीक है। संगीत—रचना में अवतरित होने वाले स्वरों की यह अनुभूतिगत विशेषता है।

४-स्वरों की संसर्गगत (Association) विशेषता-किसी स्वर विशेष के अनु-रणन को सुनकर हमें अपने अनुभव के संसर्ग में आने वाली ध्वनि विशेष या ध्वनि सामान्य का स्मरण होने लगता है, उदाहरणार्थ-संगीतश्रोता को संगीत-रचना में स्वरों के माध्यम से प्रस्तुत किये गये अरण्य–कोलाहल की

---

१. 'संगीतमकरन्द' १।४७-४८, पृष्ठ ५

२. 'नाट्यशास्त्र भाग २' १७।१०३-१०५, पृष्ठ ३८७ "हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ ॥ षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ। गान्धारश्च निषादश्च कर्त्तव्यौ करुणे रसे ॥ धैवतश्चैव कर्त्तव्यो वीभत्से सभयानके।"

कोई प्रतीति न हो सकेगी, यदि उसके अतीत अनुभवों के संसर्ग में प्रस्तुत दृश्य का कोई अवशेष नहीं है। संगीत-रचना में संगीतकार स्वरों के द्वारा ऐसे अनेक पूर्वानुभूत नाद-विषयों का प्रतीकीकरण करता है, चाहे संगीतश्रोता को उनका बोध हो या न हो। प्रायः संगीतश्रोता स्वरों के संसर्गगत प्रतीक-विधान को समझ लेते हैं।

इस प्रकार संगीतकला की अशाब्दिक ध्वनियों में भी, स्वर-विधान के फलस्वरूप, भावाभिव्यंजकता परिलक्षित होती है, अन्यथा संगीतश्रोता को श्रवणगोचर ध्वनियों से एक अदर्शनीय सौन्दर्यानुभूति क्यों होती ? यहीं पर स्वरों की प्रतीक-योजना का उद्देश्य पूरा हो जाता है। शिल्पी शिला को काट-छाँट कर जिस मूर्ति का निर्माण करता है, उसे हम किसी देवता का प्रतीक समझते हैं। इसी प्रकार संगीतकार स्वरों का गुम्फन कर जिस राग-परक नाद की सृष्टि करता है, उसे हम किसी नाद - विषय का प्रतीक समझते हैं । मूर्ति की प्रतीकात्मक भाषा के समान स्वरों की प्रतीकात्मक भाषा तथ्यहीन नहीं होती । वास्तव में, अशाब्दिक ध्वनियाँ भी भावाभिव्यंजक होती हैं। भावाभिव्यंजक होने के कारण ही स्वर प्रतीक कहे जाते हैं। स्वर-विहित ध्वनियों में भावाभिव्यंजकता सन्नहित रहती है। आनंदवर्धन भी गीत आदि के शब्दों की व्यंग्य प्रतीति मानते हैं।[१] आज भी भारतीय समाज भजन, कीर्तन आदि रूपों में आध्यात्मिक संगीत की रसानुभूति कर रहा है। संगीत - साज के साथ सम्पादित किये गये ऐसे संगीत का माहात्म्य क्यों अक्षुण्ण है ? सप्त स्वर वस्तुतः आध्यात्मिक साधना के सप्त सोपान हैं। ये ईश्वरीय प्रभुता के प्रतीक हैं। इन्हें मनुष्य ने निसर्गसे वरदान के रूप में उपलब्ध किया है । ये सप्त स्वर आध्यात्मिक संगीत के सप्त लोक हैं । प्रत्येक स्वर-लोक में विशिष्ट सरसता सुलभ होती है। सप्त स्वर-लोकों को नव रस-धारायें निरन्तर सरस किया करती हैं ।

संगीतकला में हम जिस नाद-सौन्दर्य की बात करते हैं, वह वस्तुतः स्वरों का नाद-सौन्दर्य है। स्वर-निष्पत्ति में भाग लेने वाले सभी स्वर किसी न किसी रस विशेष के प्रतीक बनकर संगीत - रचना में श्रवणगोचर हुआ करते हैं। बाह्यप्रकृति के नादात्मक वातावरण में जो ध्वनियाँ ध्वनि-लहरों के रूप में गतिशील होती हुई संगीतश्रोता के श्रवण-गह्वर में प्रवेश करती हैं, वे मूल रूप में स्वरसम्बद्ध होने के कारण भावाभिव्यंजक होती हैं। अतः ऐसी श्रूयमाण ध्वनियों या श्रुतियों से युक्त स्वर 'प्रतीक' नाम की सौन्दर्यशास्त्रीय उपाधि से अलंकृत किये जाते हैं, तो कोई अनुचित बात नहीं ।

---

१. 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ ४४६, कारिका ३३ से

ख—वाद्य संगीत में स्वरों से प्रतीक—विधान—संगीतकार अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने के लिये वाद्य संगीत का भी आश्रय लेता है। वाद्य संगीत में अवतरित होने वाले स्वर रचनात्मक दृष्टि से संगीतकार के आत्मानुभव के प्रतीक होते हैं । मौखिक संगीत की स्वर-योजना में किञ्चित् भेद है। वाद्य संगीत में वाद्याभ्यास का आश्रय लिया जाता है, मौखिक अभ्यास का नहीं । वाद्य यन्त्रों से उद्भूत होने वाली ध्वनियाँ निरक्षर होती हैं । ये ही निरक्षर ध्वनियाँ अभ्यासपूर्वक स्वरबद्ध की जाती हैं । किसी गीत की शाब्दिक ध्वनियों को स्वरबद्ध करना आसान है किन्तु किसी वाद्य से उद्भिन्न होने वाली अशाब्दिक ध्वनियों को, नहीं। गेय संगीत में वार्णिक ध्वनियों का मुखावयवों से सस्वर उच्चारण किया जाता है। अतः मौखिक संगीत में, ध्वनियों का स्वरूप वार्णिक होने के कारण तत्सम्बन्धी स्वर वस्तुतः मूर्त प्रतीक कहे जा सकते हैं। परन्तु वाद्य–ध्वनियों की कोई लिपि न होने के कारण तत्सम्बन्धी स्वर वास्तव में अमूर्त प्रतीक माने जाते हैं । वाद्य संगीत में, स्वरों की भाषा शब्दहीन होती है, वर्णहीन होती है, किंवा लिपिहीन होती है। वाद्य संगीत में, संगीतकार की वाणी शब्दहीन ध्वनियों में प्रस्फुटित होती है। अतः वाद्य--ध्वनियों को नाद से परे कुछ और रूप में समझने का प्रयास नहीं करना चाहिये। निरक्षर ध्वनियों वाले स्वरों से कलाकार के आत्म-निवेदन को समझते हुए हमें वाद्य संगीत के सौन्दर्या--स्वादन में तत्पर होना चाहिए। वाद्य यन्त्रों से भी ऐसी श्रूयमाण ध्वनियों अर्थात् श्रुतियों से युक्त स्वर, किसी भाव या विचार के प्रतीक बनकर ध्वनित अनुरणित या निनादित किये जा सकते हैं ।

वाद्य संगीत को गेय संगीत के अनुसार प्रस्तुत करना चाहिए। नाट्यशास्त्रकार के अनुसार गायक जिन—जिन स्वरों से गान करे, वादक उन—उन स्वरों को आतोद्य वाद्यों से प्रदर्शित करे। ऐसा करने के लिये वादक को यति, पाणि, समा आदि क्रियाओं का प्रयोग करना पड़ता है।[1] मौखिक, वाद्य और नृत्य संगीत में अपूर्व सामंजस्य स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि गान के अनुरूप वाद्य का तथा इन दोनों के अनुरूप नृत्य का आयोजन करना चाहिये।[2] यदि मौखिक संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत को क्रमशः एक-दूसरे का अनुरूपी बनाया जाये तो ऐसे संगीत--कार्यक्रम में श्रोताओं को स्वरों की प्रतीकात्मक भाषा अत्यन्त सारगर्भित प्रतीत होगी। वाद्य

१, 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३४।३४, पृष्ठ ४११ "यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तमातोद्यैः प्रयोजयेत् । यतिपाणिसमायुक्तं गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ॥"

२. वही, ३४।१८३, पृष्ठ ४४३

उठता है। यही ध्वनिमय पवन हृदय में विचरता हुआ स्वर-रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। पाणिनि ने सवनयोग, छन्द, उच्चारण– काल और उच्चारण-स्थान के अनुसार पाठ्य स्वरों का निर्णय किया है।[1] पाणिनि के अनुसार उर, कण्ठ और शीर्ष स्थानों से क्रमशः मन्द्र, मध्य और तार ध्वनि में उच्चरित होने वाले स्वर मुख में वर्ण-रूप लेकर व्यक्त हुआ करते हैं।[2] दूसरे शब्दों में, पाठ्य स्वर शब्दप्रधान होते हैं, नादप्रधान नहीं। उन्हें उच्चरित होने के लिये मुख-प्रदेश का आश्रय लेना पड़ता है। सभी वार्णिक ध्वनियाँ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पाठ्यस्वरों से स्वरबद्ध की जाया करती हैं। प्रश्न है कि यह कैसे सम्भव है? उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों को काल या मात्रा–विचार से क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भी कहा जाता है।[3] काल का अर्थ मात्रा से है। ह्रस्व स्वर की एक मात्रा, दीर्घ स्वर की दो मात्रायें और प्लुत स्वर की तीन मात्रायें होती हैं। वर्ण, क्योंकि बिना स्वर की सहायता से नहीं बोले जा सकते, अतः प्रत्येक वर्ण ह्रस्व स्वर 'अ' (।) से युक्त होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वर्ण की एक मात्रा होती है, यदि वह किसी मात्रा से युक्त नहीं है, उदाहरणार्थ, क=क्+अ। अतः सभी वर्गों के सभी व्यंजन इत्यादि अन्य मात्राओं के अभाव में प्रस्तुत रीति से ह्रस्व स्वर के अंतर्गत एक मात्रा रखते हैं। संक्षेप में, पाठ्य संगीत में भी वर्णयोजना पाठ्य स्वरों से नियमित रहती है। 'पाठ्य संगीत' का तात्पर्य छन्दात्मक पाठों से है, जैसे कविता-पाठ। छन्दयुक्त पद्यों को 'पाठ्यसंगीत' के अंतर्गत और छन्दहीन गद्यों को 'पाठ्य सम्भाषण' के अंतर्गत मानना चाहिए, जैसा कि आगे विचार करेंगे। यहाँ 'पाठ्यसंगीत' की सीमा में गद्यपाठ और पद्यपाठ दोनों का अध्ययन अभीष्ट है।

पाठ्य संगीत में, स्वरों के माध्यम से मन्द्र, मध्य और तार उच्चारण–विश्रामों के अनुसार किसी गद्यांश या पद्यांश का पाठ किया

---

१. 'पाणिनीय शिक्षा' श्लोक ६–८, पृष्ठ ३९–
"आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्। तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जगतानुगम् ॥

२. वही, श्लोक ६, पृष्ठ ४०

३. वही, श्लोक ११ पृष्ठ ४०— "उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः। ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥"

जाता है । ये पाठ्य स्वर जिन वार्णिक ध्वनियों से अनुगत रहते हैं, वे रागात्मक नहीं होतीं। अतः यहाँ रागच्युत वार्णिक ध्वनियों वाले स्वर ही किसी भाव या विचार के प्रतीक बनते हैं । यदि पाठ्य स्वरों से सम्बन्धित पाठ लयपूर्वक गाये जायें तो ये स्वर गेय संगीत में परिवर्तित हो जायेंगे । पाणिनि के अनुसार जब पाठ्य स्वरों का गेय स्वरों में परिवर्तन होगा तो उनमें पारस्परिक यह सम्बन्ध नियत रहेगा[1] –

क्रमांक	पाठ्य स्वर	मात्रिक स्वरूप	गेय स्वर
१.	उदात्त	ह्रस्व (एकमात्रिक)	निषाद और गान्धार
२.	अनुदात्त	दीर्घ (द्विमात्रिक)	ऋषभ और धैवत
३.	स्वरित	प्लुत (त्रिमात्रिक)	षड्ज, मध्यम और पंचम

गेय संगीत के स्वरों की भाँति पाठ्य संगीत के स्वर भी प्रतीक कहे जा सकते हैं । एक ओर स्वर गेय होते हैं तो दूसरी ओर पाठ्य । अतः पाठ्य स्वर भी अपनी उच्चारण–प्रकृति के अनुसार अनेक रसों की नियमित अभिव्यक्ति कर सकते हैं। 'पाणिनीयशिक्षा'[2] और 'संगीतमकरन्द'[3] ग्रन्थों के तुलनात्मक दृष्टिकोण से हम प्रस्तुत निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

'पाणिनीय शिक्षा'			'संगीतमकरन्द'
क्रमांक	पाठ्य स्वर	गेय स्वर	रस
१.	उदात्त	१. निषाद, २. गांधार	१. करुण, २. शान्त
२.	अनुदात्त	१ ऋषभ, २. धैवत	१. रौद्र, २. बीभत्स व भयानक
३.	स्वरित	१.षड्ज २ मध्यम ३.पंचम	१. अद्भुत व वीर २. हास्य ३. शृंगार

इस तुलनात्मक अध्ययन से हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उदात्त पाठ्य स्वर से करुण और शान्त रस की; अनुदात्त पाठ्य स्वर से रौद्र, बीभत्स और भयानक रस की; स्वरित पाठ्य स्वर से अद्भुत, वीर, हास्य और शृंगार रस की अभिव्यक्ति की जा

१. वही, श्लोक १२, पृष्ठ ४०—"उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभ-धैवतौ । स्वरितप्रभावा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥"

२. वही, श्लोक १२, पृष्ठ ४०

३. 'संगीतमकरन्द' १।४७–४८, पृष्ठ ५

सकती है । ऐसी दशा में यह कथन पूर्णतया प्रामाणिक है कि पाठ्य स्वर भी भावों और विचारों के प्रतीक बन कर श्रवणगोचर हुआ करते हैं । वैसे भी शब्द, क्यों कि प्रतीक होते हैं, अतः पाठ्य-प्रधान स्वरों को प्रतीक कहना सर्वथा संगत है। नाट्यकला में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत नाट्यश्रोता (नाट्यप्रेक्षक) द्वारा सुने जाने वाले शब्द तथा काव्यकला में पाठक द्वारा पढ़े जाने वाले शब्द प्रतीक ही तो होते हैं । अतः उर, कण्ठ आदि निश्चित स्थान से और ह्रस्व, दीर्घ आदि निश्चित काल या मात्रा से सम्बन्धित मन्द्र मध्य आदि निश्चित उच्चारण-विराम वाले उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पाठ्य स्वर अपनी-अपनी उच्चार्यमाण वार्णिक ध्वनियों के साथ यदि भावों और विचारों के प्रतीक नहीं हैं तो और क्या हैं ?

पाठ्य संगीत और गेय: संगीत दोनों में नादोत्पत्ति ५ क्रमों में होती है । बृहद्देशी के अनुसार सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त और कृत्रिम नाद की उत्पत्ति क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और मुख भाग में होती है ।[1] नाद का सम्बन्ध चाहे पाठ्य स्वरों से हो और चाहे गेय स्वरों से, किन्तु वह आत्म-प्रेरणा से इन्ही क्रमों में मन के द्वारा उच्चार्यमाण बनाया जाता है । इसी अर्थ में आत्माभिव्यंजक होने के कारण पाठ्य स्वर **'प्रतीक'** नाम से व्यवहृत होते हैं ।

(च) गेय संगीत में स्वरों से भावाभिव्यक्ति—वास्तव में, पाठ्य संगीत से संगीतश्रोता उतना मंत्रमुग्ध नहीं होता जितना कि गेय संगीत से। इसके कुछ कारण हैं— प्रथम तो गीत की शब्दावली सम्पूर्णतः छन्द-योजना पर आश्रित होती है; द्वितीय, उस गीत को आरोह-अवरोह प्रणाली से पद-योजना के अनुरूप स्वरबद्ध किया जाता है; तृतीय उसे मन्द्र, मध्य और तार ध्वनि में लय-ताल के अनुरूप स्फुट कण्ठ से गाया जाता है और चतुर्थ मौखिक संगीत की स्वर-योजना से वाद्य संगीत और नृत्य संगीत के स्वर-विधान का सम्यक् मेल कराया जाता है। यही कारण है कि गेय संगीत में स्वरों का प्रतीकात्मक अस्तित्व सर्वांगीण होता है। पाठ्य संगीत में पाठ की भाँति गेय संगीत में गीत, वर्ण-योजना की आकांक्षा रखने से शाब्दिक स्वरूप में ही प्रस्तुत होता है तथापि वह नाद-प्रधान होता है। पाठ्य संगीत के किसी पाठ का शाब्दिक स्वरूप पाठ्य होने के कारण नादप्रधान नहीं होने पाता। दूसरे शब्दों में, गेय संगीत में स्वरों के रागात्मक स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि

---

१. 'बृहद्देशी' श्लोक २३–२५, पृष्ठ ३

पाठ्य संगीत में स्वरों के शब्दार्थ-स्वरूप पर । इन दोनों की प्रतीक-योजना में वही अन्तर है जो कि रागप्रधान गीत और अर्थप्रधान कविता में होता है । यहाँ अभिनवगुप्त के विचारों को अपनी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं । 'गेय संगीत में, आत्म-स्फुरण से प्राणोल्लासपूर्वक जो वर्ण-निर्पेक्ष वाणी उद्भूत होती है, वह गेय संस्कार वाली होने से नादपरक होती है। वह हर्ष, शोक आदि चित्तवृत्तियों को अथवा उनके विधि-निषेधात्मक अभिप्रायों को इस प्रकार अभिव्यक्त करती है कि गेय स्वर कारण-कार्य रूप से अथवा तादात्म्य रूप से श्रूयमाण ध्वनियों अर्थात् श्रुतियों को आत्मसात् करते हुए संगीत-रचना में प्रकट हों'।[1] अभिनवगुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी गीत को गाते समय यह नहीं देखा जाता कि किन-किन वर्णों का उच्चारण किया जा रहा है अर्थात् उच्चार्यमाण वर्णों का भाषाविषयक गौरव क्या है ? वास्तव में, गान-क्रिया के समय यह देखा जाता है कि उन वर्णों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर संगीतकार अभीष्ट नाद-सौन्दर्य की सृष्टि कर सका है या नहीं । संगीतकार, वर्णों के भाषात्मक व्याकरण पर ध्यान न देकर उनके नादात्मक व्याकरण पर ध्यान केन्द्रित करता है। किसी गीत की वर्ण-योजना, पदों के स्वरबद्ध हो जाने से, अपने वर्णात्मक स्वरूप को नादात्मक स्वरूप में परिवर्तित कर लेती है।

संगीत में 'वर्णहीन वाणी' का अभिप्राय गीत के नादप्रधान होने से है, वर्णरहित होने से नहीं। हम कह सकते हैं कि गेय संगीत में भावाभिव्यंजक प्रतीक-योजना व्याकरणिक न होकर सांगीतिक हुआ करती है । स्वर भावाभिव्यंजक होते हैं। आगे यह वर्णन करेंगे कि वादी स्वर (स्थायी स्वर) ही विवादी, अनुवादी और संवादी स्वरों से परिपुष्ट होकर किसी रसविशेष के व्यंजक हो जाते हैं । अतः स्वर निश्चय ही संगीतकला के सर्वस्व हैं।

एक उदाहरण से स्वरों के प्रतीकात्मक महत्त्व की व्याख्या कर देना आवश्यक है। कोई वेणुवादक किसी गीतविशेष का ध्वनियों से इस प्रकार अक्षरशः अनुकरण करता है कि गायक गीत के स्वरूप को पहिचान लेता है। फिर गायक गीत की निर्दिष्ट लय का मनन करते हुए तदनुरूप तर्ज

---

१. 'नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३८६-३८७ पर अभिनवगुप्त की टीका से— 'इह येयं प्रथमेन संवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीना वाग् जन्यते, सा नादरूपा सती हर्षशोकादिचित्तवृत्तिं विधिनिषेधाद्यभिप्रायं वा तत्कार्य्यलिङ्गतया वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावत् स्थितम् ।"

में गाने का प्रयास करता है। दूसरी ओर, वादकवृन्द वेणुवादक एवं गायक के निर्देशानुसार प्रत्येक स्वरों के अनुरणन का यथोचित अनुकरण करते हुए अपने-अपने वाद्यों से सुर, गमक, तान, मोढ़, लय, ताल आदि संगीत-व्यापारों के साथ स्वर-संगत ध्वनियों को निकालते हैं। इस प्रकार निर्देशक, गायक और वादक आदि के सामूहिक प्रयास से सम्पादित सस्वर गान श्रोता को सम्प्रेषित भावों की प्रतीति कराने लगता है। अतः श्रुतियुक्त स्वरों के बिना संगीतकला में प्रतीक-विधान की चर्चा करना हास्यास्पद है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि संगीतकला में 'ध्वनि' का वही अर्थ है, जो काव्यकला में। अन्तर इतना है कि काव्यकला में ध्वनि का तात्पर्य काव्य के अर्थगौरव से है जबकि संगीतकला में ध्वनि का तात्पर्य संगीत के नादगौरव से। काव्यकला में अर्थगौरव का निर्वाह शब्द करते हैं तो संगीतकला में नादगौरव का निर्वाह स्वर। प्रथम में शब्द 'व्यंजक' और अर्थ 'व्यंग्य' होता है तो द्वितीय में श्रुति 'व्यंजक' और स्वर 'व्यंग्य' होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि काव्यकला के शब्दों की भाँति संगीतकला की श्रुतियाँ वाचक या लक्षक न होकर व्यंजक होती हैं और उसके अर्थ की भाँति संगीतकला के स्वर वाच्य या लक्ष्य न होकर व्यंग्य होते हैं। यदि काव्यकला की आत्मा 'ध्वनि' है तो संगीतकला की आत्मा भी ध्वनि है। जिस प्रकार 'व्यंजक' शब्दों और 'व्यंग्य' अर्थों से, एक ओर, कविता का व्यक्त स्वरूप सामने आता है, उसी प्रकार 'व्यंजक' श्रुतियों और 'व्यंग्य' स्वरों से, दूसरी ओर, राग का व्यक्त स्वरूप सामने आता है। 'श्रुति' का तात्पर्य क्योंकि स्वरों के हेतुपरक नादविशेष से है,[1] अतः शब्द और अर्थ की भाँति श्रुति और स्वर में 'व्यंजक-व्यंग्य' सम्बन्ध नित्य है। स्पष्टता के लिये, श्रुति का तात्पर्य ध्वन्यात्मक नाद से और स्वर का तात्पर्य अनुरणनात्मक नाद से है। संगीतकला में 'ध्वनि' के यही दो रूप हैं। काव्य भेदों में 'ध्वनि काव्य' का जो महत्त्व है, वही संगीत-भेदों में 'ध्वनि संगीत' का। संगीत कला में 'ध्वनि संगीत' का अभिप्राय ध्वनियों से ध्वनित होने वाले 'व्यंग्य' की प्रतीति कराने वाले संगीत से है। किसी प्रकार भी देखें किन्तु स्वर भावों या विचारों के प्रतीक ठहरते हैं। श्रुति और स्वर के ध्वनि-स्वरूप सदैव निर्दिष्ट रहते हैं जिससे दोनों में किसी के भी ध्वनि-व्यापार को निरर्थक नहीं मान सकते। परन्तु संगीतकला में श्रुति और स्वर का, प्रतीक-विधान की दृष्टि से, पृथक्-पृथक् अनुशीलन करना असंगत है।

---

१. 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका प्रथम भाग' २/२, पृष्ठ १७ —"श्रुतिर्नाम भवेन्नाद-विशेषः स्वरकारणाम्।"

ध्वनिविज्ञान की कसौटी पर प्रतीक-विधान— भारत में अभी तक सम्भवतः स्वरों की ध्वनिवैज्ञानिक समीक्षा नहीं हुई है। प्रो० ललित किशोर सिंह ने भारतीय संगीतकला के स्वर, श्रुति आदि घटकों की ध्वनि-वैज्ञानिक समीक्षा कर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें यदि सर्वसम्मत मान लिया जाये तो हमारा शास्त्रीय संगीत सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से निश्चय ही महान् सिद्ध होगा। भारतीय संगीत में, स्वरों की प्रतीक-विधायनी क्षमता को समझने के लिये ध्वनिविज्ञान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। संगीतकला का सम्पूर्ण ध्वनि-व्यापार वायुमंडल में गत्वर रूप लेकर सर्वत्र श्रवणगोचर होता है। प्रत्येक स्वर की वार्णिक अथवा अवार्णिक ध्वनियाँ विशेष उच्चारण-स्थान, उच्चारण-समय, उच्चारण-अवस्था इत्यादि के अनुरूप मुखावयवों या वाद्ययंत्रों से प्रस्फुटित होती हैं। गायक मौखिक ध्वनियों से और वादक वाद्य ध्वनियों से स्वरों के निश्चित ध्वनि-स्वरूप का अनुकरण करता है। इस सत्य को ध्वनिचित्रक यंत्र (oscilloscope) से प्रमाणित किया जा सकता है।[1] इसके द्वारा विद्युत् शक्ति से स्वरों की वायुमण्डलीय ध्वनि-तरंगों को एक चमकीले पर्दे पर चित्रित किया जाता है। सप्त स्वरों की ध्वनि-लहरों के जो रेखांकित चित्र बनते हैं, वे अपनी निश्चित आकृति के कारण स्वरों के प्रतीक-चित्र कहे जा सकते हैं। इस प्रकार ध्वनिवैज्ञानिक प्रयोगों से भी स्वरों की प्रतीकविधायिनी क्षमता का स्पष्टीकरण हो जाता है।

शाब्दिक भाषा की अपेक्षा स्वरात्मक भाषा अधिक सारगर्भित होती है। अनुरणनात्मक नाद में प्रतीकविधायक ४ गुण होते हैं-(अ) स्वरमान (Pitch) अर्थात् स्वरों की आरोह-अवरोह दशा, (ब) स्वरकम्पन (loudness) अर्थात् मन्द्र, मध्य, तार रूप में ध्वनि-गति, (स) स्वर-काल (Time) अर्थात् लय-ताल से नियमित ध्वनन-काल, (द) स्वर-स्वरूप (Timbre) अर्थात् मौखिक या वाद्य स्वरोच्चारण की प्रणाली। सम्पूर्ण प्रतीक-विधान का रहस्य स्वरों के इन ४ गुणों में निहित है। यह सब समझने के लिये ध्वनिविज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। गायक और वादक इन गुणों से अपनी संगीत-रचना मनमोहक बनाता है। इन गुणों के कारण स्वर सगुण बनते हैं। ऐसे सगुण स्वर नाद-विषय के प्रतीक बनकर संगीत-रचना में श्रवणगोचर हुआ करते हैं और श्रोता को सम्प्रेष्य विषय की बिम्बात्मक अनुभूति कराया करते हैं। इस सत्य को प्रमाणित करने के लिये ध्वनिवैज्ञानिक समीक्षा उपकारक बनती है।

'Sound And Symbo' page 22.

इस अध्याय के उपसंहार में इतना और कहना शेष है कि वार्णिक ध्वनियों का व्यापार या तो आन्तरिक रूप में या बाह्य रूप मेंअथवा दोनों रूपों में संगीत–रचना में सहायक बनता है। मौन पठन या मन ही मन बातें करने की भाँति संगीतकार की आन्तरिक वाणी संगीत-रचना में अव्यक्त रूप से सहायक बनती है। आन्तरिक वाणी भी निरर्थक या सार्थक वर्ण-योजना का आश्रय लेकर अन्तर्जगत में अव्यक्त रूप से सक्रिय रहती है। बाह्यवाणी तो सर्ववेद्य है ही, क्योंकि वह मुख से बाहर निकलते हुए व्यक्त रूप धारण करती है। जिस मौखिक संगीत को हम सुनते हैं, वह बाह्य वाणी का ही तो प्रतिफलन है। इस बाह्य वाणी का स्वरूप वार्णिक भी हो सकता हैं और अवार्णिक भी। वादक की बाह्य वाणी वाद्य-ध्वनियों के रूप में व्यक्त होती है, जो अपने आप में अवार्णिक होती है। संक्षेप में, संगीतकला के सभी कलाकारों की आन्तरिक या बाह्य वाणी आत्माभिव्यक्ति के लिये वार्णिक या अवार्णिक स्वरूप धारण कर के मुख, वाद्य आदि माध्यमों से आद्यन्त स्वरमयी बन कर व्यक्त होती है। सप्त स्वर हमारी आन्तरिक या बाह्य वाणी को मुखरित करते हैं, अतः वे हमारे संस्कारों के प्रकाशक हैं। आध्यात्मिक जगत् में वे सहृदयवेद्य रहने के कारण अव्यक्त रहते हैं। 'अनाहत नाद' का गौरव कौन नहीं जानता? प्रत्येक स्वर किसी न किसी देवता का प्रतीक माना गया है। 'संगीतपारिजात' के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों के देवता क्रमशः अग्नि, ब्रह्म सरस्वती, शिव, विष्णु गणपति और सूर्य हैं।[1] भला स्वरों की दैवी शक्ति से कौन मंत्रमुग्ध नहीं होगा? संक्षेप में, सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से भारतीय संगीत–कला का प्रतीक–विधान भी सर्वांगीण है, क्योंकि प्रतीक कहे जाने वाले स्वरों की दैवी महिमा अपरम्पार है।

---

१. 'संगीतपारिजात' श्लोक ६२, पृष्ठ २६

तृतीय अध्याय

प्रतिभा—विधान

अब क्रोचे, कालरिज, मारितैन आदि पाश्चात्य विद्वान् 'कल्पना' (Imagination) के स्थान पर 'प्रतिभा' (Intuition) शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। इन सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्रतिभा को रचना के स्तर पर सम्पूर्ण कला–क्षेत्र में व्याप्त माना है। कलानुशीलन में प्रतीक–विधान को समझने के लिये प्रतिभा निस्सन्देह अपनी परिचयात्मक भूमिका निभाती है। कालरिज के मत में, 'वे और केवल वे लोग ही चिन्तनात्मक कल्पना अर्थात् आत्म-प्रतिभा के पुण्य प्रभाव को अधिगत कर सकते हैं, जो अपने अन्तःकरण में प्रतीकों का अनुशीलन और अनुभावन करते हैं।'[1] कालरिज के इस सामान्य कथन को संगीतकला के सन्दर्भ में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। संक्षेप में, संगीत-रचना के प्रतीक–विधान को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्तर पर समझने के लिये प्रतिभा–मीमांसा नितांत आवश्यक है।

संगीतकला में 'प्रतिभा' शब्द का अर्थ है—संगीतकार के प्रणव–प्रेम को नियमित करने वाली मन की वह विवक्षा शक्ति, जो रचना–कौशल से अपूर्व नाद–सौन्दर्य का विज्ञापन करने के कारण 'संगीतात्मक प्रज्ञा' नाम से प्रतिष्ठित की जा सकती है। संगीतकार अपने संगीत के मन्तव्य को सर्वग्राह्य बनाने के लिये जिस मनोव्यापारिणी चिन्तनवृत्ति को व्यवहार-कुशल बनाता है, उसे संगीतात्मक प्रतिभा कह सकते हैं। प्रतिभा वह नैसर्गिक शक्ति है, जिससे संगीतकार अपनी भावनाओं की भलीभाँति अभिव्यक्ति करता है और संगीतश्रोता उनकी अनुभूति। संगीतकार की दृष्टि से जिसे हम कारयित्री प्रतिभा कहते हैं, उसे ही संगीतश्रोता की दृष्टि से भावयित्री प्रतिभा।

कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा का तात्पर्य यह नहीं कि प्रतिभा के दो भेद होते हैं, अपितु अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष को

---

1. 'Biographia Literaria vol. I' Page 167—"They and they only can acquire the philosophic imagination, the sacred power of self-intuition, who within themselves can interpret and understand the symbol ....."

समझने के लिये कला-समीक्षा के ये दो आधार हैं । इस सन्दर्भ में, प्रतिभा चित्तवृत्तियों एवं आत्मसंस्कारों से निसर्गतः सम्पन्न रहा करती है, किन्तु अपने को निवेदित या अभिव्यक्त करने के लिये उसे रचनात्मक होना पड़ता है । संगीत की रचनात्मक कुशलता को ही संगीतात्मक प्रतिभा कहते हैं । अतः संगीत-रचना में अभिव्यक्त होने वाले भाव रचनात्मक ज्ञान के बिना अनुभूति के विषय नहीं बन सकते । हम कह सकते हैं कि स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त और अनुभूत होने वाले भाव या विचार, क्रमशः संगीतकार और संगीतश्रोता की अभिरुचि के अनुकूल प्रतिभा का अनुसरण करते हैं । प्रतिभा के बिना न तो संगीतकार भावाभिव्यक्ति ही कर सकता है और न संगीतश्रोता भावानुभूति । संगीतात्मक प्रतिभा की परिधि में बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष के समस्त व्यापार क्रमशः प्रासंगिक और आधिकारिक रूप में परिमित रहते हैं । अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीतकला में बौद्धिक कुशलता की कुछ अधिक अपेक्षा है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है । संगीतशास्त्र में बौद्धिक कौशल का जो विज्ञापन अपेक्षित है, वह संगीतकला में नहीं । संगीतकला में एकमात्र चमत्कार संगीत-रचना का भावमय बनना है, जिससे कि मनोरंजन का लक्ष्य सम्पादित किया जा सके । भावप्रधान होने पर भी संगीतकला विचारशून्य नहीं है । अपने व्यापक अर्थ में, संगीतात्मक प्रतिभा के पारिभाषिक क्षेत्र में संगीतात्मक अनुभव, संगीतात्मक अभिरुचि, संगीतात्मक ज्ञान और संगीतात्मक अभ्यास इत्यादि आ जाते हैं ।

(अ) संगीतात्मक अनुभव—संगीतकार के आत्मानुभव भी संगीतात्मक होते हैं । वह जीवन और जगत् से जो कुछ भी प्रत्यक्ष, स्मृत और कल्पित रूपों में संगीतात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुतः उसकी संगीतपरक चेतना का पुरस्कार होता है । उसकी चैतन्य विचार--धारा संगीत-रचना के धरातल पर कभी-कभी सहज भाव से प्रगतिशील हो उठती है । संगीतकार के संगीतविषयक अनुभव उसके सगीतात्मक ज्ञान-कोष के वैभव को बढ़ाते हैं । सगीतकला के सन्दर्भ में संगीतकार के आत्मानुभव सदैव संगीतात्मक हुआ करते हैं । संगीतत्मक अनुभव मूलतः आत्म-गौरव के चैतन्य व्यापार होने के नाते सदैव प्रतिभाविशिष्ट हुआ करते हैं । सक्षेप में, वे प्रतिभा के प्रकाशन-स्तम्भ हैं । संगीतकला में संगीतात्मक अनुभवों का विवेचन प्रतिभा के सन्दर्भ में ही किया जाता है ।

(ब) संगीतात्मक अभिरुचि—संगीतकला में कलाकार के अभिरुचि के विषय या तो सौन्दर्याभिव्यक्ति या सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्धित होते हैं। संगीतप्रस्तोता संगीतात्मक अभिरुचि के बिना किसी भी नाद-विषय की

अभिव्यक्ति करने में प्रवृत नहीं होता । संगीतश्रोता संगीतात्मक अभिरुचि के बिना उसकी अनुभूति नहीं कर सकता । अतः संगीत की सरस अनुभूति वा अभिव्यक्ति में अभिरुचि सक्रिय भाग लेती है । संगीतात्मक अभिरुचि प्रायः प्रकृति की नैसर्गिक देन कही जाती है। संगीतात्मक अभिरुचि का अनुशीलन प्रतिभा के सन्दर्भ में करना पड़ता है । संगीतकला के लक्षण–ग्रन्थों में हम देखते हैं कि कलाकारों के गुण–दोषों के विवेचन में संगीतात्मक अभिरुचि पर अधिक बल दिया गया है । सभी आचार्य इस परम्परा के अनुयायी सिद्ध होते हैं । किसी नाद–विषय या घटना के संसर्ग में आकर जब किसी सहृदय कलाकार के सुषुप्त भाव जाग उठते हैं तो श्रावणिक संवेदना के फलस्वरूप उसकी संगीतात्मक अभिरुचि भावभयी होकर संगीत–रचना में शनशः मुखरित होने लगती है । संगीत–कला में अभिरुचि का अर्थ प्रातिभ अभिरुचि से है ।

(स) संगीतात्मक ज्ञान—संगीत-रचना में कलाकारों के संगीतात्मक ज्ञान के दो रूप सक्रिय रहते हैं—(१) जीवन और जगत् के नैसर्गिक नाद-व्यापारों का ज्ञान, (२) संगीतशास्त्रीय ज्ञान। जीवन और जगत् के ध्वन्यात्मक व्यापारों के ज्ञान के लिए कलाकार को प्रयास नही करना पड़ता। वह बिना श्रम किये सहज भाव से प्राकृतिक संगीत का ज्ञान सुलभ कर लेता है। हम आये दिन पशु, पक्षो, मनुष्य, पदार्थ इत्यादि से सम्बन्धित नादात्मक व्यापारों का चलते-फिरते ज्ञान करते रहते हैं। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान श्रमसाध्य होता है। प्रथम के लिये मनन-चिंतन की अपेक्षा रहती है तो द्वितीय के लिये साधना की। सम्पूर्ण संगीतात्मक ज्ञान प्रतिभा की कोटि में आ जाता है। ज्ञाता यदि प्रातिभ नहीं है तो ज्ञेय विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता । प्रातिभ 'ज्ञाता' को संगीतात्मक 'ज्ञान' के सहारे ही 'ज्ञेय' विषय का प्रतिभान होता है ।

(द) संगीतात्मक अभ्यास—संगीतकला मूलतः संगीत-रचना पर आधारित है। संगीतात्मक अभ्यास के बिना संगीत-रचना कभी प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती। संगीतात्मक अभ्यास और संगीत-रचना एक-दूसरे पर निर्भर हैं। संगीतात्मक अभ्यास का प्रयोजन मौखिक, वाद्य और नृत्य संगीत को आकर्षक बनाना है। संगीत के सभी व्यावहारिक पहलुओं पर सम्यक् सफलता प्राप्त करने के लिये संगीतकार निरन्तर अभ्यास करता है। यह भी देखा जाता है कि बहुत से संगीतप्रेमी निरन्तर अभ्यास करने पर भी संगीतशास्त्री ही कहे जाते हैं, संगीतकलाकार नहीं। इसका एकमात्र कारण उनमें नैसर्गिक प्रतिभा का अभाव होना है। संगीतात्मक अभ्यास नाद-सौन्दर्य की सृष्टि में साधनस्थानीय है, साध्यस्थानीय नहीं। कारण यह है कि प्रतिभा के अन्य घटकों में संगीतात्मक अभ्यास भी एक है।

संगीतकला में भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समरसता अपेक्षित है। संगीतकार की प्रतिभा का गौरव इस बात में है कि वह संगीतात्मक इच्छा, संगीतात्मक ज्ञान और संगीतात्मक क्रिया को समन्वित कर सकी है या नहीं। प्रतिभा के विकास के लिये संगीतात्मक इच्छा या अभिरुचि का सम्पादन संगीतात्मक ज्ञान से तथा संगीतात्मक ज्ञान का प्रकाशन संगीतात्मक क्रिया या अभ्यास से करना चाहिये। प्रतिभा की रूप-रेखा इस प्रकार की होनी चाहिए—

संगीतात्मक प्रतिभा

संगीतात्मक इच्छा → संगीतात्मक ज्ञान → संगीतात्मक क्रिया

भारतीय संगीतकला में प्रतिभा-विधान की परम्परा—भारतीय संगीतकला सदैव संगीतात्मक चेतना को महत्त्व देती रही है। संगीतात्मक चेतना के बिना न तो नाद-सौन्दर्य की विधिवत् अभिव्यक्ति हो सकती है और न अनुभूति। भारतीय संगीतकला रसवादी विचार-धारा पर आश्रित होने के कारण केवल उन संगीत-रचनाओं का समादर करती है, जो प्रतिभा की उपज होने के कारण परचित्तानुरंजन में समर्थ हों। संगीतकार अपनी प्रतिभा के बल पर विविध संयोग जुटाकर अपने संगीत-कर्म को संगीतश्रोता के समक्ष प्रस्तुत करते रहे हैं। वह सुने हुये प्रकृतिगत संगीत की इस प्रकार पुनःसर्जना करता है कि उसका कलागत संगीत, स्वर-विधान से लेकर राग-विधान तक निरन्तर श्रोताओं की भावनाओं को उद्दीप्त किया करता है। संगीत-रचना की सफलता ग्राम, मूर्च्छना, तान, जाति आदि से विशिष्ट स्वरों के ऐसे नाद-सौन्दर्य पर अवलम्बित है, जो रागात्मक होने के कारण हमें भी रागात्मक बनाये। प्रातिभ कलाकार वही है जो अपने मन में स्थित नादात्मक विषयों को ध्वनियों के द्वारा संगीत-रचना में मूर्त रूप दे दे। अतीत में विविध नाद विषयों की प्रतीति कर चुकने वाली श्रवणेन्द्रिय-संवेदना के तीन लक्षण हैं—स्मृति के बल पर निरन्तर जागरूक रहकर संगीत-रचना का संचालन करना; संगीत-रचना के समय प्राचीन अनुभवों को ध्वनियों के द्वारा वर्तमान् बिम्बों में परिणत करना; संगीतकार के अतिरिक्त संगीतश्रोता को भी संवेदनशील बनाकर दोनों की प्रतिभा का विकास करना। प्रतिभा का गौरव इसी में है कि कलाकार अपनी कला-कुशलता से अतीत के नादात्मक विषयों को, श्रवणेन्द्रिय-संवेदना से स्मरण करके, संगीत-रचना में ध्वनियों के द्वारा बिम्बित कर दे। संगीतात्मक ज्ञान और संगीतात्मक अभ्यास के सहारे संगीतकार की प्रतिभा संगीत-रचना में सक्रिय भाग लेने लगती है। वह संगीत-रचना के समय

अतीत के संगीतानुभवों को स्वयं सुनता हुआ-सा अपनी प्रतिभा का प्रकाशन करता है। मुख या वाद्य से उत्पन्न होने वाली वार्णिक या अवार्णिक ध्वनियाँ तरंगों के रूप में श्रवणसुखद वातावरण का निर्माण करती हैं, जिसका श्रेय यदि संगीतकार की नैसर्गिक, व्युत्पन्न और अभ्यस्त प्रतिभा को दिया जाये तो कोई अनुचित बात न होगी। श्रवणेन्द्रिय-संवेदन से सम्पन्न संगीतकार संगीतात्मक नाद को सर्वथा सार्थक बना देते हैं। यही उनकी प्रतिभा का रहस्य है।

यह बात सत्य समझनी चाहिये कि प्रतिभा बिना अभ्यास के नहीं निखर सकती। संगीतकार निरन्तर अभ्यास से अपनी प्रतिभा को जितना निखारेगा, उसकी रचना उतनी ही प्रभावशाली होगी। संगीतकला मूलतः रचनात्मक होने के कारण रचनात्मक प्रतिभा के बिना वह सहज सौन्दर्यानुभूति नहीं करा सकती, जो सहृदय श्रोता को अपरिमित आनन्द देती हो। गायक, वादक, नर्तक और श्रोता को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के द्वारा की जाने वाली संगीत-साधना केवल उसके समय का सदुपयोग और श्रांत मन का बहलाव तो कर सकती है किन्तु वह प्रतिभाहीन अर्थात् संगीतात्मक ज्ञान आदि अवयवों से हीन होने के कारण सामूहिक मनोरंजन नहीं कर सकती। संगीतकार से इतर व्यक्तियों की संगीतात्मक अभिरुचि पूर्णतया विकसित नहीं होती। अतः वे प्रातिभ नहीं कहे जा सकते। संगीतात्मक मन के भी कुछ न कुछ लक्षण होते हैं, जो सामान्य व्यक्तियों के संगीतहीन मन से भिन्न माने जा सकते हैं। ध्वनियों को सुन कर समझने की क्षमता, श्रवणेन्द्रिय की जागरूक संवेदनशीलता, भाव-बोध करने की तत्परता, अभिव्यक्त संगीत को पुनः अभिव्यक्त करते की निपुणता आदि विशेषतायें संगीतात्मक मन की ही हैं। इनका संगीतविमुख मन में प्रायः अभाव रहता है। 'श्रावणिक संवेदना' इन विशेषताओं से सम्बन्धित —कानों से सुनना, समझना, अनुभव करना, बारम्बार व्यक्त करना इत्यादि संगीतात्मक व्यापारों का निर्वाह करती है। जीवन और जगत् में लोग नित्य बहुत सी ध्वनियों को सुना करते हैं, किन्तु उनको समझने का प्रयास शायद ही दो-चार लोग करते हों। ये दो-चार लोग ही संगीतप्रातिभ कहलाते हैं अर्थात् ये लोग ही संगीत को समझने और समझाने की प्रतिभा रखते हैं। शेष लोग संगीतहीन हृदय अर्थात् संगीतहीन भावनाओं के कारण ऐसे नादात्मक जगत् के प्रति भावुक नहीं हो पाते। बौद्धिक चेतना की प्रबलता के कारण उनका हृदय भावों से आन्दोलित नहीं हो पाता। संक्षेप में, संगीतहीन लोगों की श्रावणिक संवेदना मन को मर्म-स्थलों का स्पर्श नहीं करने देती। उनका मन विचार-बोध में उलझ जाता है

जिससे भाव-बोध सुषुप्तप्राय रह जाता है। ऐसे लोग शास्त्रज्ञ तो कहे जा सकते हैं किन्तु कलारसिक नहीं।

भारतीय कला-मीमांसा में सौन्दर्योपभोक्ता को 'सहृदय' कहा गया है। यदि संगीतश्रोता सहृदय नहीं है तो वह संगीत का निर्विघ्न आस्वादन नहीं कर सकता। संगीतनिर्देशक, संगीतप्रस्तोता आदि कलाकारों को भी सहृदय होना चाहिये। संगीतकला में हम सहृदय कलाकार उसे मानते हैं जो ध्वनियों को सुनकर समझने, अनुभव करने और पुनःसर्जना करने की क्षमता रखता हो। श्रवणेन्द्रिय जितनी ही संवेदनशील होगी, कलाकार उतना ही सहृदय होगा। किन्तु यह बात शास्त्रीय संगीत के सैद्धान्तिक निरूपण में कदाचित् सत्य प्रतीत नहीं होती। प्रायः श्रमसाध्य संगीत प्रतिभा के अभाव में रागपरक नहीं बन पाता। नैसर्गिक चेतना से रहित संगीतकार न तो परिचित्तानुरंजन ही कर पाते हैं और न यथेष्ट स्वचित्तानुरंजन ही। सहृदय संगीतकार वही है जो यथावश्यक संगीताभ्यास करते हुए अपनी प्रतिभा से ऐसे संगीत की रचना करने में निपुण हो जो 'स्वान्तःसुखाय' भी हो और 'परान्तःसुखाय' भी। यहाँ भारतीय संगीतकार के कुछ सामान्य गुणों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूं। संगीतनिर्देशक, संगीतप्रस्तोता और संगीतश्रोता के ये गुण इस प्रकार हैं–

(१) संगीतकार को वयस्क होना चाहिये। यदि कलाकार वयस्क नहीं है तो वह प्रतिभा के परिपक्व न होने से, एक ओर, न तो संगीत का सफल प्रदर्शन कर सकता है और, दूसरी ओर, न रसास्वादन।

(२) संगीतकार को वंश-परम्परा से, संगीतशास्त्रियों से परम्परागत रूप में कुछ न कुछ उपलब्धियाँ सुलभ होनी चाहिये। पैतृक सम्पत्ति और अर्जित सम्पत्ति के रूप में उपलब्ध संगीत, संगीतकार की प्रतिभा को वैभवशाली बनाता है। इस दृष्टि से भारत में संगीत के घराने आज भी जागरूक हैं।

(३) भारतीय संगीतकार 'सोचो–समझो–करो' प्रणाली से संगीत-साधना करता आया है। संगीतात्मक अनुभव को वह संगीत–रचना के पूर्व प्रदर्शित करने की योजना बनाता है, फिर शिक्षा व अभ्यास से अपनी रचना को रागात्मक बनाते हुए स्वयं सुनता और समझता है; अन्त में, अपनी अभिरुचि से प्रदर्शन के योग्य समझकर उसे रसपेशल बनाते हुए संगीत–विदों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

(४) निजी स्वभाव, शिक्षा, अनुभव, अभिरुचि, संसर्ग, अभ्यास आदि तथ्य उसके संगीतात्मक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। प्रतिभासम्पन्न संगीतकार का यह व्यक्तित्व संतुलित और समरस होने से संगीत-रचना में सदैव प्रभावशाली भूमिका निभाता है।

(५) इन गुणों से सम्पन्न संगीतकार ही प्रातिभ कहलाने का अधिकारी है। ऐसे कलाकारों की संगीत-रचना को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सरस कहा जाता है, क्योंकि संगीतप्रेमी आद्यन्त रागमय होकर निर्विघ्न भाव से संगीत का सौन्दर्यास्वादन किया करते हैं।

संगीतकला का सर्वस्व प्रदर्शन पर निर्भर है। इसीलिये संगीत-ग्रन्थों में अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक नियमों की सर्वांगीण समीक्षा की गई है। श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, जाति आदि विषयों को भलीभाँति समझाया गया है। 'कहीं संगीतकार की नैसर्गिक प्रतिभा निष्क्रिय ही न रह जाये'– इस विचार से, प्रतिभा को शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न बनाने के लिये अनेक लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये। दूसरी ओर यन्त्रों के अभाव में भी ध्वनियों की वैज्ञानिक समीक्षा करने के लिये हमारे आचार्य सतत प्रयत्नशील रहे हैं। हमारे संगीताचार्य तो स्वयं प्रातिभ थे ही, वे अपने शिष्यों को भी प्रातिभ बनाने के प्रति सजग रहते थे। इस विचार से संगीत-शिक्षा में ध्वनि–विस्तार, ध्वनि–स्वरूप, ध्वनि-प्रवाह इत्यादि विषयों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। हमारे प्रातिभ आचार्य जानते थे कि संगीत-शिक्षा किस प्रयोजन से, किस रूप में, किस प्रकार, किन छात्रों को, कितनी मात्रा में दी जाये? इसी से गायक, वादक, नर्तक आदि सभी कलाकार यह भलीभाँति जान लेते थे कि वे अपनी कमजोरियों का किस प्रकार निराकरण कर सकते हैं; किस वाद्यविशेष से अपनी अभिरुचि को व्यावहारिक बना सकते हैं; संगीतात्मक नाद के किस रूपविशेष का निरूपण करने से उनका संगीत-प्रदर्शन सुन्दर और सुबोध बन सकता है; संगीत-रचना में किन-किन तथ्यों का नियंत्रण करने से वह स्वयं आचार्य का गौरव पा सकता है।

भारतीय संगीतकला में, गायक, वादक, नर्तक आदि सभी कलाकार इस गुरु–शिष्य परम्परा का पालन करते आये हैं। उनकी प्रतिभा संगीत-रचना के विषय में 'सोचो-समझो-करो' सूत्र का अनुमोदन करती रही है। संगीतकार संगीत के उन सभी उपादानों को भलीभाँति समझते हुए निरूपित करता है, जिनके बिना रचित संगीत रागपरक नहीं बन सकता। ये उपादान हैं– श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, जाति, जाति–लक्षण।[1] प्रातिभ कलालार का दायित्व संगीत-रचना में इन सब का सफल निर्वाह करना है। इसी उद्देश्य से वह अपनी प्रतिभा को बहुमुखी बनाता है। इनके सफल निर्वाह से किया गया रागालाप मनोरंजक बनता है। प्रतिभा

१. जाति के लक्षण १० हैं—ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडव →नाट्यशास्त्र भाग ४' २८/६६, पृष्ठ ४३

की कसौटी यह है कि संगीतकार, एक ओर, वाद्य संगीत के बिना भी अपना मौखिक संगीत प्रस्तुत कर सके और दूसरी ओर मौखिक संगीत को वाद्य संगीत से परिपुष्ट कर संगीत-कार्यक्रम को एकरूप या समरस बना सके। यह तभी सम्भव है, जब संगीतकार प्रस्तुत प्रक्रिया का क्रमबद्ध प्रयोग करने में व्युत्पन्न किंवा अभ्यस्त हो—

'श्रुति→स्वर→ग्राम→मूर्च्छना→तान→जाति→जाति-लक्षण = राग'।

ललितकिशोरसिंह ने नाट्यशास्त्र में इस प्रक्रिया का सम्यक् प्रतिपादन देखकर ग्रन्थकर्त्ता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।[1] स्पष्ट है कि भारतीय संगीतकला में प्रतिभा–विधान को विलक्षण मानने का अभिप्राय निर्दिष्ट तत्वों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से निर्वाह करते हुए संगीत की रचना करना है, जिसमें संगीतकार के व्यक्तित्व (अनुभव, अभ्यास, अभिरुचि आदि) का सजीव उभार हो। संक्षेप में, वही कलाकार प्रातिभ कहलाने का अधिकारी है, जो कठिन साधना से संगीत-रचना में सिद्धान्त और व्यवहार का सन्तुलन रखते हुए संगीत को प्रभावशाली बनाने की क्षमता रखता हो।

भारतीय संगीतकला में प्रातिभ कलाकार— भारतीय संगीतकला में प्रातिभ कलाकारों की तीन कोटियाँ हैं–संगीतनिर्देशक, संगीतप्रस्तोता और संगीतश्रोता।

संगीतनिर्देशक— ये प्रायः संगीताचार्य होते हैं। ये लोग संगीतशास्त्रज्ञ भी कहे जा सकते हैं। संगीत के व्यावहारिक प्रदर्शन में निपुण होने के कारण ये लोग संगीतनिर्देशक भी कहे जाया करते हैं। यहाँ यह जान लें कि संगीतनिर्देशक के लिये शास्त्रकार होना आवश्यक नहीं। संगीतनिर्देशक चाहे शास्त्रकार भले न हो किन्तु शास्त्रज्ञाता अवश्य होना चाहिये। शास्त्रकार अथवा शास्त्रज्ञ व्यक्तित्व वाले संगीतनिर्देशक संगीत–आयोजन में अग्रगण्य कलालार माने जाते हैं। उसकी प्रतिभा के विनियोग के बिना संगीत--प्रदर्शन रोचक नहीं हो सकता। इस दृष्टि से संगीतनिर्देशक को संगीताचार्य कहना सर्वथा उचित है। नाट्यशास्त्रकार के अनुसार, संगीतनिर्देशक या संगीताचार्य के ६ गुण होते हैं, जिनसे उनकी प्रतिभा का निरन्तर विकास होता है। ये गुण इस प्रकार हैं--ज्ञान, विज्ञान करण, वचन, प्रयोगसिद्धि और निष्पादन।[2] वही संगीतनिर्देशक 'ज्ञान' गुण से सम्पन्न माना जाता है जो शास्त्रज्ञ हो। जो संगीतनिर्देशक

---

१. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ १५७

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' पृष्ठ ४००-- "ज्ञानविज्ञानकरणवचनप्रयोगसिद्धि–निष्पादनानि षडाचार्यगुणा इति।"

विधि--विधान से संगीत--रचना का भलीभाँति सम्पादन कर सके वह 'विज्ञान' गुण से युक्त माना जाता है । इसी प्रकार जो कण्ठ और हस्त से सम्बन्धित विशेषताओं का संगीताभ्यासी हो वह 'करण' गुण से; जो संगीत--ग्रन्थों के अनुकूल व्यवहार करने वाला हो वह 'वचन' गुण से; जो देश-विदेशों की संगीत--साधना के प्रयोग में निपुण हो वह 'प्रयोगसिद्धि' गुण से; जो शिष्यों की संगीतात्मक प्रतिभा के अनुकूल शिक्षा देने वाला हो वह 'निष्पादन' गुण से सम्पन्न माना जाता है।[1] इन गुणों से सम्पन्न संगीतनिर्देशक को ही प्रातिभ कहना चाहिये । संगीतनिर्देशक की प्रतिभा का चमत्कार इस बात पर निर्भर है कि वह पूर्वानुभूत संगीत को स्मरण शक्ति से संगीत--रचना में बिम्बित कर सका है या नहीं । अनुभूत संगीत की निजी स्मृति से यथासमय पुनरावृत्ति करने में जो संगीतनिर्देशक दक्ष है, वही सच्चा प्रातिभ कलाकार है । यदि संगीतनिर्देशक इस लक्ष्य में सफल हो जाता है तो वह संगीत का निर्देशन करने में भी सफलता प्राप्त कर सकता है । जो संगीतकार स्वयं अपने संगीत का निर्देशन करने असमर्थ है तो भला वह दूसरों के संगीत का निर्देशन किस प्रकार कर सकेगा ? कोई संगीत--रचना तभी मनोरंजक बन सकती है जब कि संगीतनिर्देशक अपनी प्रतिभा से प्रस्तुत संगीत का सफलतापूर्वक निर्देशन कर सकने की योग्यता रखता हो ।

(२) **संगीतप्रस्तोता**—संगीतनिर्देशक के बाद संगीतप्रस्तोता का क्रम आता है । 'संगीतप्रस्तोता' तीन प्रकार के होते हैं-गायक, वादक और नर्तक । इस प्रकार मौखिक संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत के विचार से संगीतप्रस्तोता भी तीन प्रकार के हुए । संगीत-आयोजन तभी उपादेय और मनोरंजक बनता है, जब ये कलाकार अपनी प्रतिभा से उसे निरन्तर निखारते रहें । शास्त्र--ग्रन्थों के अनुसार इन कलाकारों में कुछ गुणों का होना आवश्यक माना गया है। इसका प्रयोजन यही है कि संगीतकला की साधना करने वाले कलाकार इन--इन गुणों को अपने संगीतात्मक व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित कर सकें ।

प्रातिभ गायक ५ प्रकार के होते हैं- शिक्षाकार, अनुकार, रसिक, भावुक और रंजक ।[2] 'शिक्षाकार' गायक अपनी प्रतिभा से विषम संगीत

---

१. वही--"तत्र ज्ञानं शास्त्रावबोधः । तथा च क्रियासम्पादनं विज्ञानम् । कण्ठहस्तगौण्यं करणम् । जितग्रन्थतावचनम् । देशादिसम्पदाराधनं प्रयोगसिद्धिः शिष्यस्वभावमविशेष्योपात्तय उपदेशाच्छिष्यनिष्पादनमिति ।"

२ 'संगीतरत्नाकर भाग २' ३/१६-२०, पृष्ठ १३८

को भी सुगम बनाता हुआ संगीतशिक्षक का दायित्व निभाता है। 'अनुकार' गायक अपनी प्रतिभा से दूसरों की गान-विधि का भलीभाँति अनुकरण करते हुए गानक्रिया का सम्पादन करता है। वास्तव में, 'रसिक' गायक ही सच्चे अर्थ में प्रातिभ कहलाने का अधिकारी है। जिस सरस गीत को सुनकर वह पुलकान्वित होता है, उसे वह स्वयं आनन्दमग्न होकर सस्वर गाते हुए अपने श्रोताओं को भी भाव-विभोर कर देता है।[१] 'भावुक' गायक संगीतश्रोता के स्वभाव का परिज्ञान करके, नीरस गीत को भी अपनी प्रतिभा से सरस या भावमय बनाता हुआ सुरीले कण्ठ से गाता है।[२] 'रंजक' गायक संगीतश्रोता की इच्छानुसार रागालाप करता हुआ अपनी प्रतिभा से संगीतमंच पर परचित्तानुरंजक का गौरव प्राप्त करता है।[३] गायक की प्रतिभा को विकसित करने वाले कुछ अन्य गुण नाट्य-शास्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं, जैसे–गायक तरुण हो, क्योंकि तरुण गायक के कण्ठ आदि अवयव मृदुल हुआ करते हैं; गायक स्निग्ध हो, क्योंकि स्निग्धता के अभाव में गानक्रिया परुषता के अभिशाप से नीरस हो जाती है; गायक का कण्ठ सस्वर गान में मुखर हो, क्योंकि सुरीले कण्ठ से व्यक्त संगीतात्मक नाद अपने सौन्दर्य से श्रोता को विमुग्ध कर लेता है; गायक लय, ताल, कला, पात, प्रमाण, योग आदि के व्यवहार में कुशल हो, क्योंकि अस्त-व्यस्त गानक्रिया कभी प्रभावोत्पादक नहीं होती; गायक का व्यक्तित्व रूप, गुण, कान्ति, माधुर्य, सत्व आदि लक्षणों से सम्पन्न हो, क्योंकि व्यक्तित्वहीन गायक हमारे आकर्षण का केन्द्र नहीं बन पाता––इत्यादि।[४] ये सभी गुण गायक की प्रतिभा का प्रकाशन करते है। इन्हीं गुणों से अलंकृत होने पर गायक की प्रतिभा में चार चाँद लग जाते हैं। वास्तव में, गायक का मन स्वर आदि माध्यमों से स्वयं अपने को व्यक्त नहीं करता अपितु स्वर आदि स्वयं मन के माध्यम से संगीत-रचना में व्यक्त होते हैं। अन्य शब्दों में, संगीत-योजना गायक की प्रतिभा के माध्यम से संचालित होती है।

प्रत्येक गायक की प्रतिभा अपनी-अपनी मान्यताओं और सीमाओं से

---

१. वही, पृष्ठ १४० पर 'सुधाकरी' टीका में संगीतसमयसार' से "सुश्रुवं गीत–माकर्ण्य भवेद्यः पुलकान्वितः। आनन्दाश्रुकणाकीर्णः सोऽयं रसिक गायकः ॥"

२+३. वही, पृष्ठ १४०

४. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३३/२–३, "गाता प्रत्यग्रवयाः स्निग्धो मधुरस्वरोपचित कण्ठः। लयतालकालपातप्रमाणयोगेषु तत्त्वज्ञः ॥ रूपगुणकान्तियुक्ता माधुर्यो-पेतसत्वसम्पन्ना। पेशलमधुरस्निग्धानुनादिसमरक्तगुरुकण्ठाः ॥"

संयमित रहती है। यदि ये मान्यतायें और सीमायें समन्वित रूप से गान-विधि में स्थान ग्रहण करें तो संगीतकार की प्रतिभा अपने गुणों के प्रभाव से संगीतश्रोताओं को अवश्य प्रभावित करेगी। यदि वे समन्वित रूप से गान–विधि में प्रकट नहीं हो पातीं तो संगीतकार की प्रतिभा किसी गुण विशेष के अभाव से ग्रस्त हो जाती है। ऐसा गायक हमारी प्रशंसा का पात्र नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ–यदि गायक गाते समय मूर्च्छना और तान में स्पष्ट भेद करते हुए गानक्रिया का सम्पादन न कर सका तो उसकी प्रतिभा का यह एक दोष समझा जायेगा। गायक का व्यक्तित्व ऐसी कमजोरियों से निष्प्रभ नहीं होना चाहिये, अन्यथा उसकी प्रतिभा इन दोषों के जाल में निरन्तर उलझती जायेगी। यदि प्रतिभा ने दोषों के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं किया है तो वह अपनी सीमा से इन दोषों को दृढ़तापूर्वक बहिष्कृत कर सकती है। गायक के एक-दो दोष प्रतिभा के अनन्त गुणों के सम्मुख, संसर्गवश, स्वयं निष्प्रभ हो जाते हैं। भारतीय संगीतकला में, किसी गायक की प्रतिभा के शारीरिक गुणों को 'शारीर' नाम दिया गया है।[1]

शारीर गुण वस्तुतः कलाकार के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं। किसी कलाकार के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं– आत्मिक गुण और शारीरिक गुण। किसी संगीतात्मक व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले शारीरिक गुण ही 'शारीर' नाम से व्यवहृत होते हैं। वासुदेव शास्त्री के अनुसार 'शारीर' वह जन्म–जन्मान्तर की वासनाविशेष है जो अभ्यास के बिना भी ध्वनियों से रागाभिव्यक्ति करने में समर्थ हो। ऐसी नैसर्गिक चेतना को 'शारीर' नाम देना सर्वथा संगत है, क्योंकि उसका जन्म कलाकार के शरीर के साथ होता है। संगीतरत्नाकर में भी ऐसी ही परिभाषा दी गई है।[2] अपने शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'शारीर', गायक की प्रतिभा से सम्बन्धित वह चित्त-व्यापार है जिसका उद्भव शरीर के साथ होता है और जो अपने नैसर्गिक, चैतन्य और शाश्वत प्रभाव से कलाकार को अभ्यास के बिना भी ध्वनियों के द्वारा रागाभिव्यक्ति करने में प्रवृत्त करता है। प्रतिभा से सम्बन्धित शारीर गुण अन्य गुणों में सर्वोपरि माने जा सकते हैं। अन्य गुण तो संगीताभ्यास के कारण विकसित होते हैं किन्तु शारीर गुण संगीताभ्यास के बिना

१. 'संगीतशास्त्र' पृष्ठ २३२

२. 'संगीतरत्नाकर' ३/८२, पृष्ठ १५१–"रागाभिव्यक्तिशक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद्ध्वनेः। तच्छारीरमिति प्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात्॥"

निसर्गतः कोमल हुआ करता है। गायिका को कण्ठ सुरीला बनाने के लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। गायिका के शरीर के साथ ही 'मधुरकण्ठ' यह गुण जन्म लेता है। इन शारीर गुणों से सम्पन्न नैसर्गिक प्रतिभा संगीतकला का चिरनूतन संसार रचती है। शारीर गुण, क्योंकि नैसर्गिक होते हैं, अतः प्रतिभा को भी नैसर्गिक कहना असंगत नहीं। सामान्यतः यह कहा जाता है कि 'प्रतिभा' का सम्बन्ध मानस-व्यापार से तथा 'शारीर' का सम्बन्ध शरीर-व्यापार से है। शारीरिक गुण मानसिक प्रतिभा के निश्चय ही उपकारक हैं। शरीर और मन एक दूसरे से पृथक् नहीं अपितु एक ही प्राणी के 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' नाम के दो संवेदन-विषयक जीवन-व्यापार हैं। अतः कलाकार के शारीर गुणों का प्रयोजन संगीतात्मक मन को चैतन्य या संवेदनशील बनाना है। इस प्रकार मन को चैतन्य बनाने वाले शारीर गुण प्रतिभा के उपकारक सिद्ध हुए। यह कहना सर्वथा उचित है कि शारीर गुण वस्तुतः संगीतात्मक प्रतिभा के बाहरी या स्थूल गुण हैं। केवल गायक ही नहीं, वलिक अन्य भी इन शारीर गुणों से सम्पन्न हो सकते हैं। आगे, संगीतरत्नाकर के अनुसार वादक के गुणों की व्याख्या की जा रही है–

(१) वादक को वाद्य संगीत के साथ--साथ गेय संगीत और नृत्य संगीत में भी प्रातिभ होना चाहिए। तभी वह गायक और नर्तक के कला–कौशल के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए अपने वादन–कौशल का प्रदर्शन कर सकता है। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट निर्देश है कि गायक जिन–जिन स्वरों से गुज़रे, वादक उन--उन स्वरों को आतोद्य वाद्यों से अनुरणित करे।[१] एक प्रातिभ वादक का लक्षण यही है कि संगीत–समारोह में वह अपने वादन--कौशल का सफलतापूर्वक प्रदर्शन कर सकता है।

(२) वादक को संगीत--रचना में स्वरों के ठहरावों या विश्रामों के प्रति भी सचेत रहना चाहिए। यदि वादक लय-ताल की उपेक्षा करते हुए संगीत की रचना करता है, तो वह अपने संगीत को निश्चय ही अस्त-व्यस्त बना देगा। मात्रा या काल के महत्त्व को न समझने वाले वादक की प्रातिभा हमें आकर्षित नहीं कर सकती। नाट्यशास्त्रकार ने तो इतना तक कह दिया है कि जो ताल का ज्ञाता नहीं, वह न तो सच्चा गायक कहा जा सकता है और न सच्चा वादक।[२]

१- 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३४/३४, पृष्ठ ४११ "यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तमातोद्यैः प्रयोजयेत्। यतिपाणिसमायुक्तं गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ॥"

२. वही, ३१/३६८, "यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।"

(३) यदि वादक बजाने और गाने का उत्तरदायित्व एक साथ निभाता है तो उसे गेय संगीत और वाद्य संगीत के सम्मिलित प्रयोगों से भी परिचित होना चाहिये । कहने का आशय यह है कि वादक को अन्य वाद्यों के बजाने का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये । यदि वादक अन्य वाद्यों को बजाना नहीं जानता; उनको बजाने का ज्ञान नहीं रखता; संगीत–आयोजन में, अन्य वाद्यों से निकलने वाली ध्वनियों के साथ अपने वाद्य की ध्वनि का सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता तथा अन्य सहयोगी वादकों को अपने वादन–कौशल से प्रभावित कर अनुयायी नहीं बना सकता तो ऐसे वादक की प्रतिभा को क्या निर्दोष मानेंगे ? वास्तव में, किसी न किसी दोष के कारण वादक की प्रतिभा कभी–कभी कुण्ठित हो जाया करती है । उदाहरणार्थ—चित्रपट के लिये रचे गये संगीत में सभी वादक अपने–अपने वादन–कौशल का एकत्र प्रदर्शन करते हैं । यदि शहनाई या बाँसुरी बजाने वाले कलाकार ने अपने वादन–कौशल में किञ्चित् गड़बड़ी दिखलाई तो सम्पूर्ण संगीत–समारोह किरकिरा हो जाता है । अतएव ऐसे अवसरों पर सभी वादक एक स्थान में, एक निश्चित समय में, एक साथ, एक ही गीतविशेष का वाद्य ध्वनियों से अनुकरण करते हुए, अपने–अपने वादन–कौशल से यदि सम्मिलित कार्यक्रम का भलीभाँति निर्वाह कर लेते हैं तो उनमें से प्रत्येक कलाकार प्रातिभ कहलाने का अधिकारी है- इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं ।

भारतीय संगीतकला में संगीतनिर्देशक, संगीतप्रस्तोता और संगीत-श्रोता सभी को प्रतिभासम्पन्न होना आवश्यक माना गया है। संगीत-ग्रन्थों में प्रातिभ कलाकारों के लक्षण भी दिये गये हैं । उनकी प्रतिभा को निखारने के लिये विविध उपाय बताये गये हैं । जीवन और जगत् की विविध ध्वनियों को समझने-पहिचानने की क्षमता; संगीत–रचना से सम्बन्धित ध्वनियों को सुनकर अनुभव करने की तत्परता; अनुभूत ध्वनियों को पुनः व्यक्त करने की योग्यता; नादात्मक भाव–बोध करने–कराने की विलक्षणता इत्यादि विशेषतायें तो सामान्य प्रतिभा से सम्बन्धित हैं । साधारण कलाकारों की सामान्य प्रतिभा ही आगे चल कर विशिष्ट प्रतिभा का पद ग्रहण कर लेती है-यदि मुख, कान आदि शरीरावयवों से सम्बन्धित शारीर गुण संगीतात्मक मन की मनन शक्ति का विकास करते हुए पूर्णतया प्रतिभान्वित हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में, कलाकार के शारीरिक और आत्मिक गुणों के सर्वांगीण विकास से प्रतिभा विशिष्ट बनती है, अन्यथा सामान्य कही जाती है ।

प्रतिभासम्पन्न संगीतकार वही है जिसके समस्त गुण संगीत के

उत्कर्षकारक सिद्ध हों। संगीतकार के गुण संगीत-रचना का नियमन करते हैं। यदि संगीत के सुनते-सुनते कोई भाव या विचार हमारे मानस-पटल पर बिम्बित नहीं हो पाता तो यह समझना चाहिये कि उनकी प्रतिभा किन्हीं गुणों से अभावग्रस्त है। बहुत-से संगीतप्रेमी निरन्तर अभ्यास करने पर भी व्यवहार-कुशल नहीं हो पाते। अतः ये गुण संगीतकार के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। कुछ संगीतकार ऐसे भी होते है जो संगीत-प्रदर्शन को प्रभावशाली बनाने में कदाचित् अपने अनुभव का यथेष्ट सदुपयोग नहीं कर पाते। ऐसे कलाकारों का संगीतात्मक व्यक्तित्व प्रायः प्रतिभाशून्य होता है। वे संगीत की व्यावहारिक शिक्षा में पिछड़े रहते हैं। संगीतात्मक ज्ञान और संगीतात्मक अभिरुचि के अभाव में, अकेला संगीतात्मक अनुभव अपने संगीत-कर्म में निश्चेष्ट हो जाता है। हम कह सकते हैं कि प्रतिभा अपने लक्ष्य में तभी सफल हो सकती है जब वह संगीतात्मक अनुभव, संगीतात्मक अभिरुचि, संगीतात्मक ज्ञान और संगीतात्मक अभ्यास से सर्वगुणसम्पन्न बने। दूसरे शब्दों में, प्रातिभ कलाकार वही है जो संगीत में अनुभवी हो, संगीत का प्रेमी हो, संगीत का मर्मज्ञ हो और संगीत का अभ्यासी हो। संगीतात्मक प्रतिभा, अपने अनेक स्तरों पर, मानस में संकलित सूचनाओं को कलाकृति के माध्यम से प्रकाशित करने की क्षमता रखती है। ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न संगीतकार अपने रचना-कौशल से संगीतश्रोताओं को अवश्य मंत्रमुग्ध कर लेगा। संगीतकार अपनी प्रतिभा का सहज भाव से नियंत्रण करके अपने जीवन में सर्वत्र सफलता प्राप्त कर सकता है। उसकी संगीत-रचना सार्वजनीन बन सकती है। संगीतकार के व्यक्तित्व-निर्माण में कुछ घटक तत्पर एवं सक्रिय रहते हैं। कलाकार की निजी शरीर-रचना, स्वास्थ्य - दशा, स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ इत्यादि भी प्रतिभा के विकास में कुछ न कुछ अपना हाथ बटाती हैं। व्यक्तित्वविषयक इन-इन लक्षणों से संगीतात्मक मन अवश्य प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ-यदि श्रवणेन्द्रिय की बनावट निर्दोष है तो श्रवणगोचर होने वाला संगीत ऐन्द्रिक संवेदनशीलता से मन को शीघ्र ही चैतन्य बना देगा। ऐसी श्रवणेन्द्रिय वाले संगीतकार एक ओर रचित संगीत को स्वयं सुनते जाते हैं और दूसरी ओर उसकी अभीष्ट सौन्दर्यानुभूति को परजनहिताय सम्प्रेषित करते जाते हैं। एक ओर, वह अपनी स्मरण शक्ति से पूर्वानुभूत संगीत की सर्वांगीण सृष्टि करता है और दूसरी ओर श्रावणिक बिम्बों को संगीतश्रोता के मानस-पटल पर अंकित करता चलता है। संगीतकार की प्रतिभा ऐसे स्थलों पर कारयित्री और भावयित्री दोनों भूमिकाओं का निर्वाह करती है। सच है कि संवेदनशील श्रवणेन्द्रिय के बिना संगीतकार

की प्रतिभा कदापि चमत्कृत नहीं हो सकती। यह कहना संगत है कि संगीतात्मक व्यक्तित्व के बाहरी लक्षण भी प्रतिभा-विधान के अनिवार्य घटक हैं।

भारतीय संगीतकला में प्रातिभ संगीतकार के जो लक्षण दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये कलाकार क्लिष्ट संगीत को सुगम बनाने में, सामाजिक चेतना से हीन संगीत को सार्वजनिक बनाने में, निरुद्देश्य संगीत को भावोद्बोधक बनाने में, जटिल संगीत को साधारण बनाने (साधारणीकरण) में, लघुकाय संगीत में पर्याप्त अनुरंजकता भरने में अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय देते रहे हैं। संगीतकार का व्यक्तित्व या तो वंश-परम्परा से सुलभ होने वाले संस्कारों के कारण प्रातिभ बनता है अथवा अपने प्रगतिशील विचारों के कारण। प्रायः संगीतकार अपने व्यक्तित्व के स्वयं निर्माता होते हैं। उनकी संगीत-साधना में परम्परागत उपलब्धियों का अवतरण तो निमित्तमात्र है। संगीतकार के उक्त दोनों जीवन-व्यापार एक अवस्थाविशेष (युवावस्था) में परिपक्वता पाते हैं। भारत में दोनों के विकास के लिये पर्याप्त वातावरण उपलब्ध है। यहाँ एक ओर, संगीत के घराने अपनी-अपनी वंश-परम्परा को जीवित बनाये हुए हैं और दूसरी ओर भजन, कीर्तन आदि संगीत-आयोजन भी जन-रुचि से संरक्षण पा रहे हैं। यही कारण है कि तरुण अवस्था तक आते-आते भारतीय संगीतकार अपनी कला में निष्णात हो जाता है। संगीत-शिक्षा के प्रति रुचि रखने वाले शिष्य आचार्य के निर्देशन में एकचित्त होकर अभ्यास करते हैं। प्रतिभा के निरन्तर विकास में उनकी संगीत-साधना कभी खिन्न नहीं हुई। उनके माता-पिता सर्वथा प्रोत्साहन देते रहे। भारत की मातायें अपने पुत्र को बचपन से ही लोरियों के रूप में संगीत-शिक्षा देने लगती हैं। वे कुमारावस्था तक पुत्र में संगीतात्मक अभिरुचि जगाकर उसे संस्कार-सम्पन्न कर देती हैं। यदि पिता भी किंचित् संगीतप्रेमी हुआ तो फिर कहना ही क्या? ऐसा पुत्र माता-पिता की संगीतात्मक प्रतिभा को आशीर्वाद के रूप में उपलब्ध कर लेता है। यह दूसरी बात है कि सामाजिक प्रोत्साहन न मिलने पर उसकी संगीतात्मक प्रतिभा कुण्ठित हो जाये। सामाजिक विषमतायें आज भी बहुतों के कलाप्रिय मन को कुण्ठित बना रही हैं।

पहले संगीतनिर्देशक संगीत की शास्त्रानुकूल रचना करता है, फिर संगीतप्रस्तोता—गायक, वादक, नर्तक लोग उसके निर्देशन में संगीत की पुनः सर्जना करते हैं और अन्त में, संगीतश्रोता अपनी सीमाओं में सुनते-समझते हुए उसका सौन्दर्यास्वादन करते हैं। ये सभी व्यक्ति संगीत-मर्मज्ञ होने के नाते संगीतकार या संगीत के कलाकार हैं। हाँ, संगीतश्रोता के लिये

भी अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। स्वरमान के परिवर्तन से स्वरसम्बन्धी ध्वनि-तरंगों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यदि संगीतकार सदैव इस विषय का ध्यान रखते हुए संगीत की रचना करता हैं तो इसका अर्थ है कि वह ध्वनिविज्ञान के नियमों का पालन करता है। निरीक्षण (Observation) और प्रयोग (Experiment) आदि प्रक्रियाओं का यदि संगीतकार भी अनुसरण करें तो उनकी संगीतात्मक प्रतिभा आश्चर्य-जनक विकास कर सकती है। ध्वनिविज्ञान के द्वारा संगीतात्मक प्रतिभा के मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विश्लेषण (Analysis) किया जा सकता है। प्रत्येक वार्णिक ध्वनि का उच्चारण-स्थान नियत है, जैसे– कवर्ग का उच्चारण कंठ से, तवर्ग का उच्चारण दन्त से इत्यादि। गाये जाने वाले शाब्दिक गीत का ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण सर्वथा सम्भव है। यदि गायक वार्णिक ध्वनियों का अशुद्ध उच्चारण करते हुए किसी गीत को गाता है तो उसका संगीत 'उच्चारणभृष्ट' दोष का भागी बन सकता है। यदि गायक उच्चारण-नियमों के अनुकूल सस्वर गान करता है तो ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से उसका संगीत निश्चय ही प्रभावशाली होगा। ध्वनिवैज्ञानिक नियमों का पालन करने से संगीतकार की प्रतिभा में 'कलाकार' के अतिरिक्त 'समीक्षक' की भावना का भी प्रवेश हो जाता है। यदि संगीत-शिक्षा ध्वनिवैज्ञानिक नियमों पर आधारित हो तो संगीत का विद्यार्थी शीघ्र ही संगीत के विज्ञान में निपुण बन सकता है। संगीताभ्यास में ध्वनिविज्ञान के नियम उपकारक सिद्ध हो सकते हैं। संगीतकार थोड़े ही समय में, थोड़े से परिश्रम में, थोड़े ही धन से संगीतात्मक प्रतिभा को ध्वनिवैज्ञानिक के व्यक्तित्व से परिनिष्ठित कर एक उच्चकोटि का कलाकार बन सकता है। ध्वनिविज्ञान के संदर्भ में रचा गया संगीत अपने आप में परिपूर्ण होगा। ऐसे संगीतकार को संगीतसमीक्षक प्राय: सर्वगुणसम्पन्न कहा करते हैं।

श्रवणगोचर होने वाला संगीत ध्वनि-लहरों का संघात है। संगीतकार और संगीतश्रोता भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विज्ञानों का आश्रय लिये बिना भी संगीतात्मक नाद को अभिव्यक्त और अनुभूत करते हैं। अत: संगीतकला में वैज्ञानिक नियम अनिवार्य नहीं। यह दूसरी बात है कि संगीतसमीक्षक के पद पर ग्रामीन संगीतश्रोता कलाप्रेमी के वजाय विज्ञानप्रेमी बन जाये। ध्वनिविज्ञान के सन्दर्भ में संगीत को समझने वाले संगीतश्रोता, कलाकार नहीं अपितु वैज्ञानिक होते हैं। ध्वनियों की वैज्ञानिक समीक्षा करने में रुचि लेने वाला संगीतश्रोता विचारक होगा, भावुक नहीं। संगीतकार [संगीतनिर्देशक, संगीतप्रस्तोता, संगीतश्रोता] की संगीत

चेतना यदि विचारप्रधान है तो वह नाद-सौन्दर्य के अभिव्यंजन अथवा अनुभावन में तत्पर न होकर विश्लेषण में प्रवृत होगा। संक्षेप में, संगीतकला में ध्वनिवैज्ञानिक नियम संगीत-रचना के अनिवार्य साधन नहीं हैं।

संगीतकला में ध्वनिवैज्ञानिकता का यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन संगीत का आधुनिकीकरण किया जाये। आधुनिकीकरण के मोह से भारतीय संगीतकला विकृत हो सकती है। अतः आधुनिकता के चक्कर में पड़ना ठीक नहीं। ध्वनिविज्ञान की कसौटी पर कलाकारों की प्रतिभा को कसना उचित नहीं इससे तो बड़ा ही अनर्थ हो जायेगा। प्रातिभ संगीताचार्यों की प्रतिभा पर सन्देह करना, भारतीय संगीत-परम्परा के साथ विद्रोह करना है। भारतीय संगीतकला को अपनी प्रतिभा से निखारने वाले; निष्ठा और विश्वास के साथ निरन्तर अभ्यास करने वाले; संगीत-शास्त्रीय नियमों के अनुसार संगीत की रचना करने वाले; अपने रचित संगीत से संगीतश्रोताओं का मनोरंजन करने वाले संगीतकार क्या इसलिये पागल हैं, कि उन्होंने अपने आचार्यों की शास्त्रसम्मत साधना को सार्व-भौमिक मान्यता देते हुए बिना जाने समझे स्वीकार कर लिया? मेरी समझ में, यदि हमारा संगीतशास्त्र पूर्णतया वैज्ञानिक न होता तो देश-विदेश के संगीतप्रेमी हमारे अन्धाधुन्ध अनुयायी नहीं बनते। निष्ठा, विश्वास और लगन के साथ जीवन-जीवन भर संगीतकला की साधना करने वाले कलाकार इस देश में हजारों साल से जन्म लेते आये हैं और उन्मुक्त हृदय से सौन्दर्यास्वादन करते हुए आध्यात्मिक संगीत के वरदान से अपने जीवन को सफल बनाते आये हैं।[1] उनकी संगीतमयी जिजीविषा जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सदैव साधनारत रही।

इतना अवश्य है कि ध्वनिवैज्ञानिक नियम संगीतात्मक प्रतिभा के प्रकाशक सिद्ध हो सकते हैं। यहाँ दो उदाहरण देकर इस कथन की व्याख्या की जा रही है। हमारे आचार्यों ने ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ही ध्वनियों के ४ भेद किये हैं— वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज। आचार्य तुम्बुरु के अनुसार, उच्च घोष वाली रूक्ष ध्वनि को वातज; गम्भीर निनाद वाली सघन ध्वनि को पितज; स्निग्ध, सुकुमार और मधुर गुणों से युक्त ध्वनि को कफज तथा तीनों ध्वनियों के समाहार से युक्त ध्वनि को सन्निपातज कह कर पुकारते हैं।[2] स्पष्ट

---

१. 'संगीत की कहानी' पृष्ठ १३

२. 'भरतकोश' पृष्ठ ३०३ पर "उच्चैस्तरो ध्वनी रुक्षो विज्ञेयो वातजो बुधैः। गम्भीरो घनशीलश्च ज्ञातव्यः पित्तजो ध्वनिः॥ स्निग्धश्च सुकुमारश्च मधुरः कफजो ध्वनिः। त्रयाणां गुणसंयुक्तो विज्ञेयः सन्निपातजः॥"

व्यक्तित्व का निर्माण होता है । संगीतकला को सरस बनाने में सगुण प्रतिभा का महत्व किसी से छिपा नहीं है । उदाहरणार्थ-एक प्रातिभ गायक अपने संगीतनिर्देशक की मौखिक तर्ज को सुनकर तुरन्त अपनी प्रतिभा से प्रस्तुत गीत के लिये एक अच्छी तर्ज ढूंढ़ निकालता है । गुनगुनाहट-भरी साधना से गीत की कोई न कोई मधुर लय स्वयं प्रकट हो जाती है । यहाँ लय का अनुसन्धान करने वाली गायक की प्रतिभा ही तो सजग है । जिस प्रकार कवि गुनगुनाकर अपनी 'कविता' रचता है, उसी प्रकार संगीतकार गुनगुनाकर अपना 'गीत' रचता है । काव्य-साधना की भाँति संगीत-साधना भी प्रतिभा की मुखापेक्षी है । सच है कि संगीत-साधना में विचार पक्ष और भाव पक्ष न्यूनाधिक रूप में काव्य-साधना की भाँति सहायक बनते हैं । विविध प्रत्ययों से सम्बलित प्रतिभा संगीतकला की नूतन दुनियाँ रचती है । मेरे विचार से प्रतिभा के बिना संगीत-रचना को सर्वग्राह्य बनाना दम्भ मात्र है । बुद्धिजन्य संगीत में कारीगरी का तो अस्तित्व हो सकता है किन्तु सरसता का नहीं । प्रतिभा को हृदय और बुद्धि का उचित सम्मिश्रण कह सकते हैं।

नादात्मक जगत् के सम्पूर्ण जीवन-व्यापार संगीतात्मक कल्पना के द्वारा ही सम्पन्न हो रहे हैं । गीत को कण्ठस्थ करने या कराने में, अतीत संगीत को स्मरण करने या कराने में, प्रस्तुत संगीत को समझने या समझाने में, सर्वत्र संगीतात्मक प्रतिभा निश्चय ही अमूल्य सहयोग देती है । संगीतकला में ध्वनियों की सम्पूर्ण लीला प्रतिभा के निर्देशन में सम्पन्न होती है । सामान्य जीवन में भी संगीतात्मक प्रतिभा विविध क्रिया-कलापों का सम्पादन करती है- यथा, बैंडवादक की प्रतिभा से ही सम्पूर्ण सैनिक व्यायाम परिचालित होता है । संगीतकला से प्रेम करने वाले और उसका विधान करने वाले अपने जीवन को अभ्यस्त बनाते हुए सामान्य व्यवहारों में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दे सकते हैं । वादक अपने वाद्य की तन्त्रियों और डोरियों को क्यों कसते हैं ? गायक अपनी मौखिक ध्वनियों में क्यों तारतम्य लाता है ? नर्तक अपने शारीरिक अभिनय में लोचता क्यों लाता है ?-इन सब का एक ही उत्तर है कि सामान्य जीवन में दूसरों को ऐसा करते हुए देखकर वह स्वयं वैसा आचरण करने लगता है । इन्हीं अनुभवों से संगीतकार की प्रतिभा दिन-प्रतिदिन विकसित होती रहती है । शहनाई, बीन, बाँसुरी आदि से अनुकरण किये जा रहे गीत को सुनकर समझने वाले आज के भारतीय सामाजिक की संगीत-चेतना विकासोन्मुखी है । यही है सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय संगीतकला का प्रतिभा-विधान ।

चतुर्थ अध्याय

बिम्ब-विधान

संगीतकला का जीवन ध्वनियों पर निर्भर है। संगीतकार ध्वनियों के माध्यम से अपने भाव एवं विचार अभिव्यक्त करता है। वे श्रावणिक संवेदना के विषय बनकर अनुभूत होते हैं। अतः संगीतकला में, बिम्ब-विधान श्रवणेन्द्रिय-व्यापार पर निर्भर होने के कारण अत्यन्त जटिल है। संगीतकला के बिम्ब श्रावणिक होते हैं। ध्वनियाँ जिस चाक्षुष विषय का बोध कराती हैं, वह मूलतः नादात्मक होता है। हम ध्वनियों से मनुष्य का नहीं, अपितु उसकी हँसने, रोने इत्यादि प्रकार की आवाज़ का निरूपण करते हैं। ध्वनियों की सार्थकता तभी है, जब वे श्रावणिक संवेदन से, व्यंजित नाद-विषयै की प्रतीति करा दें। ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन और जगत् के जितने भी नादात्मक प्रभाव मानव-मानस में एकत्र होते हैं, वे श्रवणेन्द्रिय की संवेदनशीलता के कारण ही। प्रकृतिगत और कलागत संगीत के सम्पर्क में आने वाली श्रवणेन्द्रिय सदैव संगीतात्मक अनुभवों या प्रभावों से प्रतिभा को समृद्धिशाली बनाया करती है। कलाकार का मन जीवन और जगत् के इन नाद-विषयों को स्मृति के कोटर में भलीभाँति सजाता रहता है। यह स्मृति विगत अनुभवों को उद्घाटित करती हुई, संगीताभिव्यक्ति अथवा संगीतानुभूति में कारयित्री अथवा भावयित्री प्रतिभा की सहेली बनती है। इसी दशा में, संगीतप्रस्तोता नाद-विषयों को ध्वनियों के द्वारा संगीत-रचना में मूर्त रूप दे देता है। संगीतश्रोता संगीत-रचना के प्रति अपनी श्रवणेन्द्रिय को प्रवृत करके सम्प्रेषित नाद-विषयों का अनुसन्धान करता है। यदि संगीतकार और संगोतश्रोता दोनों ही अभीष्ट नाद-विषय के अनुभवी हैं तो वे क्रमशः संगीताभिव्यक्ति और संगीतानुभूति में अपनी स्मरण शक्ति से उसका अनुसन्धान करेंगे। दूसरे शब्दों में, संगीतकार कारयित्री प्रतिभा को और संगीतश्रोता भावयित्री प्रतिभा को स्मरणशक्ति से सजग कर अनुभूत नाद-विषय का संगीत की रचना करते समय श्रवणेन्द्रिय के द्वारा अनुसन्धान करते हैं।

संगीतकार अपनी प्रतिभा से लौकिक ध्वनियों को सांगीतिक ध्वनियों में परिणत करता है। भौतिक जगत् के नादात्मक विषय में तथा मानसिक

जगत् के तद्विषयक नादात्मक प्रभाव में 'काया–छाया' की भाँति सम्बन्ध मान सकते हैं। एक प्रकार से छाया वस्तुतः काया की अनुकृति है, उसी प्रकार नाद-प्रभाव वस्तुतः नाद-विषय की अनुकृति है। लोकगत नाद-विषय ध्वनियों के माध्यम से मानसगत नाद–प्रभाव के रूप में संगीतकार द्वारा बिम्बित किये जाते हैं। जिस प्रकार छाया को देखकर काया की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार नाद-प्रभाव को सुनकर नाद-विषय की प्रतीति होने लगती है। यह नाद–प्रभाव वस्तुतः बिम्ब–विधान का मूलाधार है। जिस प्रकार हम छाया को काया का बिम्ब कह दिया करते हैं, उसी प्रकार नादात्मक विषय से सम्बन्धित नादात्मक प्रभाव को भी श्रावणिक बिम्ब कह दिया करते हैं। श्रावणिक बिम्ब का तात्पर्य है— नादात्मक प्रभाव के रूप में श्रवणगोचर होने वाला ऐसा भौतिक विषय, जिसके नादात्मक स्वरूप को ध्वनियों के द्वारा बिम्बित किया जाये। संगीताभिव्यक्ति अथवा संगीतानुभूति के समय हमारा ध्यान भौतिक विषय के 'रूप' पक्ष की ओर आकर्षित न होकर 'नाद' पक्ष की ओर आकर्षित होता है। संगीत-रचना में हम वृक्ष, सरिता, पक्षी आदि चाक्षुष विषयों या पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं करते, अपितु इन विषयों से सम्बद्ध 'मर-मर', कल-कल', 'कलरव' आदि भौतिक ध्वनियों को सांगीतिक ध्वनियों के द्वारा बिम्बित करते हैं। संगीत–रचना में चित्रित की जाने वाली भौतिक ध्वनियाँ, अभीष्ट विषय के नाद पक्ष का बोध कराने के साथ-साथ उसके रूप पक्ष का भी बोध कराने लगती हैं। विषय की नादात्मक विशेषताओं का का बोध पहले होता है और रूपात्मक विशेषताओं का बोध बाद में। यह सच है कि नादात्मक बोध के बिना विषय का रूपात्मक बोध कदापि नहीं हो सकता। सांगीतिक ध्वनियों को सुनकर पहले हम 'भौं-भौं' आवाज़ की प्रतीति करते हैं और तदुपरान्त कुत्ते के रूप की प्रतीति। हमारे मन में संगीतात्मक प्रभाव के कारण विषय का जो चित्र बनता है, वह वस्तुतः उसकी नादात्मक विशेषताओं के कारण। विषय के नाद-बोध और तदाश्रित रूप-बोध में हमारी एक ही ज्ञानेन्द्रिय प्रवृत होती है–श्रवणेन्द्रिय। निष्कर्ष यही है कि संगीतकला में नाद-बोध के बिना किसी विषय के रूप–बोध की बात करना असंगत है। श्रवणेन्द्रिय से हम सुनते हैं, देखते नहीं।

श्रवणेन्द्रिय की देख-रेख में किसी ज्ञेय विषय का सर्वथा ज्ञान करने के कारण संगीतकला के बिम्ब, 'श्रावणिक बिम्ब' कहलाते हैं। लाक्षणिक भाषा में कह सकते हैं कि हम कानों से सुनते ही नहीं अपितु देखते भी हैं। नेत्रेन्द्रिय से हम उसी चीज को देख सकते हैं, जिसका कोई न कोई भौतिक रूप हो। 'नाद' का अन्य पदार्थों के समान कोई चाक्षुष

'रूप' नहीं होता, क्योंकि 'नाद' नाम का कोई ऐसा पदार्थ नहीं होता जिसको आँखों से देखा जा सके। अतः 'नाद' को सुना तो अवश्य जाता है किन्तु देखा नहीं जाता। अतः पहले हम श्रवणेन्द्रिय से विषय की नादात्मक प्रतीति करते हैं और तदुपरान्त अतीन्द्रिय दृष्टि से रूपात्मक प्रतीति। एक उदाहरण देकर इस बात को समझाने का प्रयास किया जा रहा है। चित्रपट में जब कोलाहलमय अरण्य-दृश्य उपस्थित किया जाता है तो संगीतकार वाद्यज या मुखज ध्वनियों के द्वारा वृक्षों के 'मर-मर', सरिता के 'कल-कल', पक्षियों के 'कलरव' आदि का ध्वन्यात्मक अनुकरण करते हुए उस दृश्य को इस प्रकार बिम्बित कर देता है कि संगीतश्रोता श्रवणसंवेद्य प्रभाव से उसका मनसा साक्षात्कार करने लगता है। संगीतकला में ऐसे नादात्मक विषय नेत्रेन्द्रिय-सन्निकर्ष से नहीं अपितु श्रवणेन्द्रिय-सन्निकर्ष से ज्ञेय होते हैं। ध्वनियों से निर्मित होने वाले इन श्रवणगोचर प्रभावों को विचित्रता के कारण श्रावणिक बिम्ब कहते हैं।

स्पष्ट है कि संगीतकला में, श्रावणिक बिम्बों का अन्यतम महत्त्व है। इतना और जान लेना आवश्यक है कि श्रावणिक बिम्बों से अभीष्ट विषय का बोध किस कारण, किस प्रकार, किस रूप में और किस समय होता है ? बिम्ब-विधान को समझने के लिये इन ४ प्रश्नों का समाधान अति आवश्यक है। विक्टर जकरकैन्डल ने संगीतविषयक बिम्बों को कालिक बिम्ब (Time images) कहा है। उनके कथन का अभिप्राय है कि संगीत-रचना में ठीक उसी प्राकार से कालिक बिम्बों की अवतारणा की जाती है जिस प्रकार स्थूल कलाकृतियों में आकार बिम्बों (Space images) की।[१] श्रावणिक बिम्बों के सन्दर्भ में यदि पाश्चात्य संगीत-समीक्षक समय (Time) तत्त्व पर अधिक बल देते हैं तो भारतीय संगीताचार्य भी समय (ताल) तत्त्व की अवहेलना नहीं करते। नाट्यशास्त्रकार ने तो इतना तक कह डाला कि जो ताल का मर्मज्ञ नहीं, वह न तो सच्चा वादक है और न सच्चा गायक।[२] मौखिक, वाद्य और नृत्य तीनों संगीत-विधायें 'ताल' तत्त्व का सर्वथा अनुसरण करती

---

1. 'Sound and Symbol' Page 258-"works of musical art are time images in the same sense in which works of the representational arts and architecture are space images."

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३१/३६८, पृष्ठ २८२-"यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।"

हैं । संगीत-रचना में यदि 'ताल' पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता तो संगीत का श्रवणसंवेद्य प्रभाव किसी भी प्रकार के बिम्ब का बोध नहीं करायेगा । संक्षेप में, किसी नाद-विषय की प्रतीति का कारण संगीत-रचना का तालानुगत होना है ताकि नादात्मक प्रभाव बिम्बहीन न हो। यहाँ ताल--निर्वाह का एक दृष्टान्त दे देना अनुचित न होगा । वादक जब किसी नाद--विषय का श्रावणिक बिम्ब प्रस्तुत करने की इच्छा करता है तो वह वाद्य पर स्पष्ट प्रहार करते हुरते हुए, ध्वनियों के परिमाण का विस्तार-संकोच करते हुए, ध्वनिसमुच्चय में प्रत्येक ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए, ध्वनियों को लयसम्पन्न बनाते हुए, अपना हस्त-कौशल दिखाते हुए, वाद्य संगीत के विविध तथ्यों का ध्यान रखते हुए मृदंग को इस प्रकार बजाता है कि वाद्य संगीत सर्वथा तालानुगत होकर अभीष्ट विषय की बिम्बात्मक अनुभूति कराने लगता है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बिम्ब-विधान की दृष्टि से संगीत-रचना में ताल प्रकरण की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते । यदि सांगीतिक ध्वनियों को व्यावहारिक नियमों के साथ तालानुरूपी बनाया जाये, तो अनुभूयमान श्रावणिक बिम्ब अभीष्ट नाद-विषय का द्योतन करने लगते हैं । 'संगीतमकरन्द' में ताल के जीवन-पोषक १० तत्त्व गिनाये गये हैं—काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तारक ।[१] इनका व्यावहारिक रूप में पालन करने से श्रावणिक बिम्ब प्रभावशाली बनते हैं । हम दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सकने में समर्थ हैं कि समय या ताल तत्त्व के निर्वाह हेतु भारतीय संगीताचार्य जितने सतर्क हैं उतने पाश्चात्य संगीतसमीक्षक नहीं । यह निष्कर्ष निराधार नहीं है । विक्टर जकरकैन्डल के ग्रन्थ का आद्यन्त अनुशीलन करने पर मैंने यह पाया कि वे बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में समय या ताल (Time) के निर्वाह-हेतु केवल लय (Rhythm) पर अधिक ध्यान देते हैं ।[२] बिम्ब-विधान की दृष्टि से किसी संगीत-रचना को समय-सापेक्ष या तालसापेक्ष बनाने के लिये केवल 'लय' तत्त्व पर ध्यान देने से ही काम नहीं चल सकता । ताल के जीवन-पोषक तत्त्व लय के अतिरिक्त ९ और हैं।

यहाँ तक पूर्वनिर्दिष्ट दो प्रश्नों का समाधान किया जा चुका है (१) नाद-विषय की बिम्बात्मक अनुभूति तभी सम्भव है, जब कि संगीत-

---

१ 'संगीतमकरन्द' नृत्याध्याय/तृतीय पाद/श्लोक ५१, पृष्ठ ४३

२. 'Sound and Symbol' page 157 "The principal manifestation of time in music is rhythm."

के स्थान पर 'नाद-सौन्दर्य' अनुच्छेद का प्रयोग करना अनुचित नहीं। नाद-सौन्दर्य की सीमा में श्रावणिक बिम्बों का अस्तित्व स्वयं सुरक्षित है। उस श्रवणगोचर नाद का मूल्य ही क्या॰ जो बिम्बहीन हो अर्थात् जिसकी अनुभूति से सम्प्रेष्य विषय का कोई भी बिम्ब मन में न उभरे। रागपरक नाद से श्रावणिक बिम्ब निर्मित किंवा उद्घाटित होते हैं। वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वरों के परस्पर संयोग से जो रंजक नाद निष्पन्न होता है, उसे राग कहते हैं। अतः स्वर अपने रंजक या रागपरक नाद के कारण एक निश्चित भावोद्बोधक बिम्ब की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। बिम्बहीन संगीत कभी भी प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता।[१] संगीत का प्रयोजन राग-रागिनियों के माध्यम से किसी नाद-विषय का बिम्ब-विधान करना है जिससे नाद-सौन्दर्य की विचित्र अनुभूति हो सके। हमारे विचारों से केवल अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद ही सहमत नहीं हैं, अपितु श्यामला शर्मा भी। उनके अनुसार किसी विशिष्ट शब्द-प्रकरण के बिना भी प्रत्येक राग किसी न किसी नादात्मक वस्तु, भाव या विचार का एक निश्चित बिम्ब प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है।[2] श्रावणिक संवेदना से ग्रहीत नादात्मक प्रभाव अपने रागमय अस्तित्व से किसी नाद-विषय को संगीतश्रोता के मानस-पटल पर बिम्बित या चित्रित कर देता है। रागों के माध्यम से ही बिम्ब-सृष्टि करनी होती है। राग स्वरों के उस गुम्फन को कहते हैं, जिसके अन्तर्गत किसी नाद-विषय के सभी पक्षों (नादात्मक, रूपात्मक आदि) को श्रवणसुलभ बिम्बों के रूप में नादात्मक स्वरूप दिया जाये। विक्टर जकरकैन्डल भी स्वीकार करते हैं कि संगीत-रचना के तालसाक्षेप बिम्ब वस्तुतः श्रावणिक बिम्ब होते हैं,

---

१. वही--"निष्कर्षतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि विभिन्न रागों की रस-परिपाक-शक्ति विभिन्न स्वरों के प्रयोग पर निर्भर करती है, ऐसे स्वर जो अन्ततः अपनी विशेष ध्वनि के कारण एक निश्चित भाव-बिम्ब की सृष्टि करने में सक्षम होते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि संगीत का आनन्द मात्र उसके कर्णप्रिय होने में नहीं हैं, बल्कि अपनी रमणीयता के लिये अन्ततः उसे भी विभिन्न राग-रागिनियों के माध्यम से बिम्ब--सृष्टि ही करनी होती है। बिना इसके संगीत किसी भी प्रकार प्रभावोत्पादक हो ही नहीं सकता।"

2. 'Indian Aesthetics And Art Activity' Page 99-"without any specific word-content, every raga has a capacity to produce a certain image of form and mood, and a feeling tone."

जो स्वरों से निर्मित होते हैं।[1] चौथे और अन्तिम प्रश्न का समाधान भी यहाँ मिल जाता है कि संगीत-रचना में जब श्रुतियों से स्वर, स्वर से ग्राम, ग्राम से मूर्च्छना, मूर्च्छना से जाति और जाति से राग की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है; तब ऐसी दशा में रचित रागात्मक नाद श्रवणगोचर होता हुआ किसी विषय की बिम्बमयी अनुभूति कराने लगता है। श्रुतियों और रागों के बीच में स्वर अनेक स्तरों को पार करते हुए रंजक बनते हैं। संगीतकार स्वररूप रंजक ध्वनियों के माध्यम से बिम्ब-विधान का उत्तरदायित्व निभाते हैं। संगीतकार रागों के माध्यम से किसी विषय के जिन बिम्बों को सम्प्रेषित करते हैं, संगीतकार उन को सुन कर तद्विषयक बिम्बों को ग्रहीत करते हैं। राग, संगीतकार और संगीतश्रोता की वैषयिक अभिरुचि का सम्पादन करने के कारण सदैव सरस हुआ करते हैं। श्रवणेन्द्रिय-बोध में विचित्र सुन्दरता या सरसता का प्रणेता बनकर रागपरक नाद अपने प्रभाव से बिम्बविधायक के पद पर समासीन हो जाता है।

बिम्ब-विधान का मूल स्वरूप—रागों से बिम्ब-विधान तभी सम्भव है जब वे आहत-समय (Time) और आहत-स्थान (Space) के औचित्य से श्रवणगोचर हों। इन विषयों की संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित व्याख्या की जा रही है

(अ) <u>आहत समय (Time)</u>-- भारतीय संगीत में 'समय' के लिये 'ताल' शब्द प्रचलित है। ताल का ज्ञापन अर्थात मापन करने वाली हमारी श्रवणोन्द्रिय है। यह जान लें कि जिस प्रकृतिगत और कलागत नाद को हम सुनते हैं उसका वास्तविक नाम 'आहत नाद' है। 'अनाहत नाद' का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से होने के कारण यहाँ विवेच्य नहीं। संगीतात्मक नाद मुख से प्रयत्नपूर्वक उद्भिन्न किये जाने के कारण कृत्रिम होता है। दूसरे शब्दों में वह वस्तुतः आहत प्रकार का होता है। संगीतात्मक नाद के आहत या उद्भिन्न होने में समय--सूचक ठहरावों या विरामों का ध्यान रखना जरूरी है। इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संगीत-कर्म का आयोजन और समापन आहत-समय के औचित्य अर्थात् तालौचित्य के अनुसार होता है। 'आहत-समय' का तात्पर्य 'ताल' से है।

सच है कि कालहीन अर्थात् तालहीन संगीत-रचना विविध दोषों से दूषित होकर प्रभावोत्पादक नहीं बन पाती। दूसरे शब्दों में, राग तब तक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकते जब तक वे तालसम्मत न हों। तालसम्मत रागों के माध्यम से ही बिम्ब-विधान सम्भव है। प्रश्न यह है कि

I. 'Sound And Symbol' page 255–"A true image of time must be an image for the ear, an audible image, an image made of tones"

रागों के द्वारा रचित विम्ब 'श्रावणिक' क्यों कहलाते हैं ? उत्तर स्पष्ट है कि राग आमूलतः ताल से नियमित होते हैं, जिससे वे श्रवणेन्द्रिय के बिना अपने 'बिम्बविधायक' अस्तित्व का ज्ञापन नहीं करा सकते। रागों के द्वारा निरूपित बिम्बों को हमारी श्रवणेन्द्रिय ग्रहण करती है। पुनः हमारी श्रवणेन्द्रिय जितनी ही संवेदनशील होगी, रागों के माध्यम से चित्रित बिम्ब उतने ही सारगर्भित प्रतीत होंगे। इन्हीं कारणों से संगीतकला के बिम्ब ऐन्द्रिक संवेदन के गौरव से 'श्रावणिक बिम्ब' कहलाते हैं। रागों के माध्यम से पदार्थ, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि से सम्बन्धित नादात्मक व्यापारों को बिम्बित किया जा सकता है। कुशल संगीतकार सर-सर, कल-कल, कुहू-कुहू, भौं-भौं, ऊँ-ऊँ इत्यादि प्रकार की भौतिक ध्वनियों को रंजक ध्वनियों अर्थात् रागों के माध्यम से बिम्बित कर सकते हैं। आप शंका कर सकते हैं कि रागों के माध्यम से भाव किस प्रकार चित्रित होते हैं ? देखिये–संगीतरचना में रंजक ध्वनियों या रागों के माध्यम से बिम्बित हा-हा, ऊँ-ऊँ, ए-ए इत्यादि ध्वनियाँ क्रमशः हँसने, रोने और ललकारने आदि व्यापारों के अनुरूप हास, शोक, क्रोध आदि मानवीय चित्तवृत्तियों या भावों का श्रवणसुलभ बोध कराने लगती हैं। संक्षेप में, मौखिक संगीत या वाद्य संगीत से सम्बन्धित उच्चार्यमाण ध्वनियाँ स्वरविधानपूर्वक तालसम्मत होकर रंजक या रागात्मक बनती हैं, जिनको सुनकर संगीतश्रोता के मानस-पटल पर जीवन और जगत् की विविध भाव-दशायें बिम्बित होने लगती हैं।

किसी संगीत-रचना के श्रावणिक ब्रिम्बों का विधान अत्यन्त जटिल है। कानों से सुनी जाने वाली रंजक ध्वनियों की वस्तुओं के समान कोई आकृति नहीं होती। अतः रंजक ध्वनियों से निर्मित बिम्ब चाक्षुष नहीं होते। संगीतकार भौतिक नाद-विषयों का ध्वन्यात्मक अनुकरण करता हुआ उन्हें रंजक ध्वनियों या रागों से इस प्रकार साकार कर देता है कि उनको सुन कर हम तत्सम्बद्ध विषयों को ध्वन्यात्मक विशेषताओं के साथ प्रत्यक्ष-सा देखने लगते हैं। ये पदार्थ या प्राणी यद्यपि श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष में कदापि नहीं आते तथापि श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष में आने वाले रागों से ये पदार्थ या प्राणी भी बिम्बित होने लगते हैं। इसका कारण यह है कि रागात्मक नाद तालसम्मत होकर अपने श्रवणसंवेद्य प्रभाव से संगीतश्रोता को पुर्वानुभूत विषयों का स्मरण कराने लगता है। अतः संगीतकला के श्रावणिक बिम्ब प्रायः स्मृत बिम्ब होते हैं, कल्पित बिम्ब नहीं। संगीत-कला स्मृत प्रकार के श्रावणिक बिम्बों से धनी है।

राग-विधान में समय या ताल तत्त्व के निर्वाह के लिये ताल के १० प्राणों या तथ्यों का ध्यान रखना आवश्यक है। ताल के जीवन-पोषक साराशो में लय का विशेष महत्त्व है। संगीत-रचना में विविध स्वर निश्चित क्रम में, निश्चित प्रकार से, निश्चित नाद के साथ, निश्चित समय में इस भाँति संयोग करते हैं कि व्यक्त राग लयोपेत होकर प्रभावशाली बनते हैं। साधारण भाषा में लय का अर्थ है- रंजक ध्वनियों के ध्वनन में यथोचित विराम या विश्रान्ति के साथ तारतम्य लाने की क्रिया। राग लययुक्त ताल से नियमित होकर श्रवणसुखद ही नहीं बनते अपितु पूर्णतया श्रवणसंवेद्य भी। संगीतकार अथवा संगीतश्रोता लय-बधिर नहीं होते। वे मशीन के समान जड़ पदार्थ नहीं हैं। मशीनरी ध्वनियाँ लय-ताल से रहित होकर कोलाहल मात्र की प्रतीति करा सकती हैं किन्तु सांगीतिक ध्वनियों का प्रयोजन कोलाहल मात्र की प्रतीति कराना नहीं। उन्हें लयविधानपूर्वक रंजक होना पड़ता है ताकि तालौचित्य के साथ नादात्मक प्रभाव से बिम्बविधायिनी सिद्ध हो सकें।

(ब) *आहत-स्थान* (space)–रजक ध्वनियाँ ठोस या तरल पदार्थ जैसी नहीं होतीं, जिनको देखा जा सके। वे भौतिक वस्तुओं से रचित नहीं होतीं। उनकी भौतिक वस्तुओं के समान कोई लम्बाई, चौड़ाई या मोटाई नहीं होती। इसलिये रंजक ध्वनियाँ वस्तुओं के समान स्थान नहीं घेरतीं। इन रंजक ध्वनियों या रागों का नादात्मक वातावरण स्थानरहित होता है। रंजक ध्वनियाँ पलक मारते ही सम्पूर्ण वायुमण्डल में व्याप्त हो जाती हैं। स्पष्ट है कि उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित करने की आवश्यकता नहीं होती। नादात्मक वातावरण का ऐसा कोई भी भाग शेष नहीं रहता जहाँ रागात्मक नाद की पहुँच न होती हो। नादात्मक वातावरण के कारण रेडियो के कार्यक्रम सम्पूर्ण विश्व में एक साथ सुने जा सकते हैं। चाहे एक स्वर अनुरणित हो और चाहे अनेक स्वर अनुरणित हों किन्तु नादात्मक वातावरण सम्पूर्णतः प्रभावित होता है। संक्षेप में, संगीतकला को यह नैसर्गिक वरदान मिला है कि उसके राग नादात्मक वातावरण को सभी ओर से, सम्पूर्ण रूप से, सभी प्रकार से, बिना प्रयास के स्वयं ही प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। इतना होते हुए भी संगीतप्रेमी नादात्मक वातावरण को निर्विघ्न बनाने के लिये कुछ उपाय करते हैं, जैसे संगीत-मंडप कहीं ऐसा न हो कि ध्वनियों की लहरें टकराकर गूँज का रूप ले लें; संगीत-आयोजन बिलकुल खुले वातावरण में न हो, ताकि वायु के झकोरों से ध्वनियों का ध्वनन बराबर घटता-बढ़ता रहने से अस्त-व्यस्त हो; वायु-प्रवाह

को विपरीत दिशा से ध्वनि-लहरें प्रक्षेपित न की जायें, क्योंकि ऐसा संगीत स्पष्ट रूप से सुना न जा सकेगा--इत्यादि। निष्कर्षत: रागों से बिम्ब-विधान तभी सम्भव है जब कि नैसर्गिक और मानुषिक प्रयासों से नादात्मक वातावरण प्रशान्त रहे। यदि वातावरण प्रशान्त नहीं है तो हमारी श्रवणेन्द्रिय निर्विघ्न रूप से राग-जनित बिम्बों को ग्रहण न कर सकेगी। दूसरी ओर, यह भी ध्यान रखने की बात है कि संगीत-कला के आहत-स्थान आकाशमण्डलीय होते हैं, भूमण्डलीय नहीं। अत: स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला के चाक्षुष बिम्बों से भिन्न संगीतकला के श्रावणिक बिम्ब पूर्णतया स्थानसापेक्ष (Spacewise) नहीं होते। पुन: नादात्मक वातावरण को समझने के लिये कानों की आवश्यकता पड़ती है, आँखों की नहीं। इसलिये संगीतकला में जितना ताल (Time) पर ध्यान दिया जाता है, उतना स्थान (space) पर नहीं। भारतीय एवं पाश्चात्य संगीतसमीक्षक एक स्वर से संगीतकला के स्वररचित अर्थात् स्वरनिष्पन्न रागों से रचित बिम्बों को न केवल श्रावणिक (audible) ही मानते हैं, अपितु निमित्तवश तालिक (Timely) भी।[१]

संगीतकला के श्रावणिक बिम्ब तथा नाट्यकला—नाट्यकला के संगीत-विषयक श्रावणिक बिम्बों की चर्चा नाट्याचार्य भी करते हैं। नाट्यमंच पर गेय संगीत, पाठ्य संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत का यथावसर प्रदर्शन होता रहता है। अत: नाट्यकला अपने उपकारक संगीत के अभाव में कदापि रागपरक नहीं हो सकती। नाट्यशास्त्रकार का यह कथन सर्वथा मान्य है कि जिस प्रकार चित्र रंगों के अभाव में सौन्दर्यपरक नहीं हो सकता, उसी प्रकार नाट्य गान के बिना राग-परक नहीं हो सकता।[२] वाद्य संगीत को तो नाट्य की शय्या ही कहा गया है।[3] वास्तव में, नाटयकथा को रागपरक बनाने के लिये अभिनय--प्रदर्शन के बीच-बीच में रागमय संगीत का प्रदर्शन भी होना चाहिये। नाट्यशास्त्र का यह प्रसंग बहुचर्चित है कि नाट्य-कथा को

1. Sound and symbol' page 258-"Tones are time become audible matter, to form in tones is to form in the stuff of time; an image composed of tones is always at the same time a time image ·· ··made of time"

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३२।४२५, पृष्ठ ३८६-"यथा वर्णादृते चित्रं न शोभोत्पादनं भवेत्। एवमेव बिना गानं नाट्यं रागं न गच्छति ॥"

३- वही, ३४।३०४, पृष्ठ ४६३-"शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति वाद्यम्।"

रागमय बनाने की दृष्टि से ५ सन्धियों के अनुरूप ५ रागों का सम्पादन किया जाये। ग्रन्थकार के अनुसार मुख सन्धि में मध्यम ग्राम राग, प्रतिमुख सन्धि में षड्ज राग, गर्भ सन्धि में साधारित राग, विमर्श सन्धि में पंचम राग और निर्वहण सन्धि में कैशिक राग की रचना करना इसलिये अपेक्षित है, जिससे कि नाट्य रागपरक होकर रस, भाव से सम्पन्न हो सके। यह विषय अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि नाट्यकला में भी रागों के माध्यम से सम्पन्न होने वाला संगीतविषयक बिम्ब-विधान सर्वथा स्वीकृत और मान्य रहा है। नाट्यशास्त्रकार[1] के अतिरिक्त कालिदास[2] भी नाट्कला में सन्धियों और रसों के अनुकूल रागों को प्रतिबद्ध करना आवश्यक समझते हैं। नाट्यकला में चाक्षुष बिम्ब और श्रावणिक बिम्ब दोनों का समान महत्त्व है। नाट्यप्रेक्षक के मानस-पटल पर विलाप करते हुये राम का बिम्ब तभी उभरेगा जब नट एक ओर अपने कायिक अभिनय से उनके विवर्ण रूप का प्रदर्शन करे और दूसरी ओर उनके वियोगमय हृदयोद्गारों को वाचिक अभिनय से निरूपित करे। यह अनुभव की बात है कि नाट्यप्रेक्षक उन पद्यात्मक सम्बादों को सुनकर भावविह्वल हो जाते हैं जो कथावस्तु के भावपूर्ण दृश्यों के औचित्य से सस्वर गाये या सस्वर पढ़े जाते हैं। निष्कर्षतः नाट्यकला में चाक्षुष बिम्बों को सारगर्भित बनाने के लिये श्रावणिक बिम्ब उपकारक सिद्ध होते हैं। वाचिक अभिनय के माध्यम से रचित बिम्ब श्रावणिक होते हैं। ये श्रावणिक बिम्ब तभी प्रभावशाली सिद्ध होते हैं जब वाचिक अभिनय से सम्बन्धित सम्बाद गद्यात्मक न होकर पद्यात्मक हों तथा उन्हें सस्वर (पाठ्य स्वरों से) पढ़ने के बजाय सस्वर (गेय स्वरों से) गाया जाये। अस्तु कथावस्तु की सन्धियों के अनुरूप निर्दिष्ट रागों की वाचिक अभिनय के अन्तर्गत रचना करना संगत है, क्यों कि सस्वर गाये जाने वाले सम्बादमूलक पद्य रागबद्ध होकर अभिनेय विषयों की बिम्बमयी अनुभूति कराने लगते हैं।

बिम्ब-विधान के विविध घटक—भारतीय संगीतकला में श्रुति, स्वर ग्राम मूर्च्छना, तान, जाति और जाति-लक्षण आदि घटक रागजनक किंवा रागविधायक माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक घटक का अन्तिम लक्ष्य रागमय

---

१. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३२/४२८-४२९, पृष्ठ ३९०—"मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत्। साधारितस्तथा गर्भे विमर्शे चैव पञ्चमम्। कैशिकं च तथा कार्यं गानं निर्वहणे बुधैः। सन्निवृताश्रयं चैव रसभावसमन्वितम्॥"

२. 'कुमारसम्भव' ७/९१ "तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।

होना है । श्रुतियाँ विभिन्न रागों में स्वरत्व-रूप को प्राप्त होती हैं। श्रुतियाँ राग-विधान में नैमित्तिक होती हैं।[१] ये श्रुतियाँ जब स्वरों से व्यवस्थित हो जाती हैं तब वे 'राग-जननी' का पद ग्रहण करती हैं । श्रुतियों से व्यंजित होने वाले स्वर भी रागजनक होते हैं। स्वर का अर्थ ही है- रागजनक ध्वनि ।[२] दूसरी ओर राग को रंजक स्वर-सन्दर्भ कह कर परिभाषित किया गया है।[३] दोनों कथनों से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वरों से राग निष्पन्न होते हैं अर्थात् स्वर राग-जनक होते हैं। श्रुतियों और स्वरों के परस्पर संयोग से 'स्वरग्राम' बनते हैं। इन स्वरग्रामों का दायित्व श्रुतियुक्त स्वरों को रागोन्मुख करना है। इन ग्रामों के अन्तर्गत मूर्च्छनायें परिनिष्ठित होती हैं। मूर्च्छनाओं के द्वारा राग मूर्च्छित या साधारणीकृत होते हैं।[४] मूर्च्छनाओं के आश्रित रहने वाली तानें भी राग-विधान में नितान्त उपयोगी हैं । ठुमरी आदी प्रबन्धों में तानों को रागों के अनुसार गमकपेशल बनाया जाता है।[५] इन ८४ तानों से बनने वाली जातियाँ भी रागों की जननी कहलाती हैं । सभी प्रकार के रागों को जन्म देने के कारण इन्हें 'जाति' नाम दिया गया है।[६] जातियों से ही भाव एवं रस की प्रतीति सम्भव मानी गई है।[७] राग रसानुभूति के विषय तभी बन सकते हैं, जब वे जाति से उत्पन्न हों । जाति और राग में माँ-बेटे का-सा सम्बन्ध है। नाट्यशास्त्र में 'जातिराग' शब्द का प्रयोग देखकर दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध की पुष्टि हो जाती है ।[८] यह भी सम्भव है कि ग्रन्थकार के समय में राग के लिये 'जातिराग' नाम प्रचलित रहा हो । संक्षेप में, बिम्ब-विधान की समस्या 'जाति प्रकरण' को समझे बिना सुलझाई नहीं जा सकती । ये जातियाँ अपने १० लक्षणों से रागों को परिलक्षित करती हैं । प्रयोजनवश ये जाति-लक्षण बहुधा राग-लक्षण कहलाते हैं, जैसा कि संगीताचार्य वेंकटमखि का मत है । ऐसा मानने का औचित्य यही है

---

१. 'संगीतपारिजात' श्लोक ३६, पृष्ठ १३- "सर्वाश्च श्रुतयस्तत्तद्रागेषु स्वरतां गताः । रागहेतुत्वं एतेषां श्रुतिसंज्ञैव सम्मता ॥"

२. 'बृहद्देशी' स्वरनिर्णय । पृष्ठ १२ - " ननु स्वर इति किम् ? उच्यते । राग--जनको ध्वनिः स्वर इति । "

३. 'संगीतपारिजात' श्लोक ३३९ "रञ्जकः स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते ।"

४ 'बृहद्देशी' स्वरनिर्णय। श्लोक ९४"मूर्च्छते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता ।"

५. 'संगीत की कहानी' पृष्ठ २७

६. 'बृहद्देशी' जातिप्रकरण/पृष्ठ५५-५६"सकलस्य रागादेर्जन्महेतुत्वात जातय इति।"

७. वही, "यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारभ्यत इति जातयः ।"

८. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २८।३६, पृष्ठ ३२।

कि जातियों के ग्रह, अंश, तार, मन्द्र आदि १० लक्षण संगीत-रचना में रसों के अनुकूल विनियोजित होते हुए, रागों को लक्षित करने के कारण राग-लक्षण कहलाने लगते हैं ।[1] संक्षेप में, इस प्रकार श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना तान, जाति और जाति-लक्षण आदि तत्त्व निश्चय ही रागजनक किंवा रागविधायक सिद्ध होते हैं । संगीत-रचना में प्रस्तुत रीति से प्रकट होने वाले रागों से ही बिम्ब--विधान सम्भाव्य बनता है । इन घटकों के सामूहिक प्रयास से राग सर्वांगसुन्दर बनते हैं । बिम्ब--विधान का श्रेय इन्हीं रागों को सुलभ है, विपक्षी रागों को नहीं । वैसे भी राग से पृथक् करके हम इन घटकों का कला की दृष्टि से वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सकते ।

रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान : एक विश्लेषण—रागों के माध्यम से संगीतकार के सम्प्रेषित बिम्ब कभी-कभी प्रभावोत्पादक नहीं बन पाते । इसके अनेक कारण हैं—

(१) राग का अर्थ है-रंजक स्वर-सन्दर्भ ।[2] स्वर और वर्ण से विभूषित ध्वनिविशेष अर्थात् रंजक ध्वनि को राग कहते हैं । अतः राग परचित्तानुरंजक कहलाते हैं ।[3] राग को स्वर-सन्दर्भ कहने का एक मात्र अभिप्राय यह है कि राग किसी स्वरविशेष से ही अभिव्यक्त नहीं होते । स्वरों के सन्दर्भ या संगठन या संयोजन या गुम्फन से जो राग निष्पन्न होते हैं, वे आमूलतः रंजक होने के कारण परचित्तानुरंजन में समर्थ होते हैं । स्वरनिष्पत्ति के अन्तर्गत जब सप्त स्वर अपने वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी व्यक्तित्व से परस्पर संयोग करते हैं, तब कहीं कोई रागविशेष अभिव्यक्त हो पाता है। स्वर-योजना के प्रतिभापूर्वक संचालन से सांगीतिक ध्वनियाँ रंजक बनती हैं। भारतीय संगीतकार पहले श्रुतियों के माध्यम से अभीष्ट राग का एक ढाँचा बना लेता है। तदनन्तर वह उसे विचित्र स्वरों से सजाता है। स्वरों के इस विधान में मूर्च्छना, तान, जाति आदि अनेक घटक सहायक होते हैं। स्वरों से रागाभिव्यक्ति करने के लिये ये घटक नितांत उपयोगी हैं। स्वरनिष्पत्ति में सहायक होने

---

१. (अ) 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका प्रथम भाग' ५।३-४, पृष्ठ ५५-५६-ग्रहांशौ मन्द्रतारौ च——लक्षणानि दशैतानि रागाणां मुनयोऽब्रुवन् ।

१. (ब) 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २८।१४१, पृष्ठ ६६"एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः । यथा यस्मिन् रसे याश्च गदतो मे निबोधत ॥

२. 'संगीतपारिजात' श्लोक ३३६, पृष्ठ ६१ "रञ्जकः स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते ।"

३. 'बृहद्देशी' रागलक्षण/२८१, पृष्ठ ८१"योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः । रञ्जको जनचित्तानां स रागः संमतः सताम् ॥"

के कारण इन्हें उपचारतः बिम्बविधायक तत्त्व कह सकते हैं। राग का श्रुत्यात्मक ढाँचा जितना ही संगठित होगा, उसका बिम्बमय जीवन तथाविध स्वरों से उतना ही अक्षुण्ण रहेगा। विविध स्वर अपनी अन्तिम यात्रा में राग-लक्षणों के सहयोग से रागमय हो जाते हैं। १० राग-लक्षणों के बिना स्वर रागालाप का सम्पादन नहीं कर सकते।[१] संक्षेप में, रागों या रंजक ध्वनियों से बिम्ब-विधान तभी संभव है, जबकि श्रुतियुक्त स्वर विविध घटकों के साथ वादी, संवादी इत्यादि आयोजन के अनुरूप परस्पर संयोग करते हुए रागों को अभिव्यक्त करें। इस बात का नाट्यशास्त्रकार भी संकेत करते हैं कि बलवान् या वादी स्वर के अनुरूप संवादी आदि अन्य स्वरों का आयोजन करने से जो राग निष्पन्न होते हैं वे अपनी-अपनी जातियों का आश्रय लेकर निश्चय ही सुन्दर या सरस बनते हैं। [२]इन सरस रागों से ही बिम्ब-विधान की पुष्टि होती है, अन्यथा नहीं।

(२) यह सच है कि संगीतकला का जीवन ध्वनियों पर निर्भर है। ये ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं—वार्णिक और अवार्णिक। राग-विधान के अन्तर्गत हम दोनों प्रकार की ध्वनियों का उपयोग करते हैं। जब ये ध्वनियाँ स्वरविधान-पूर्वक रंजक या रागात्मक बन जाती हैं तो संगीतानुभूति में चिरनवीनता का निर्वाह करती हैं। संगीतकला में वार्णिक ध्वनियाँ सदैव रागात्मक हुआ करती हैं। यद्यपि कविता और गीत दोनों का जीवन वार्णिक ध्वनियों पर आश्रित है, तथापि कविता की ध्वनियाँ पाठ्य होने के कारण रागपरक नहीं होतीं। गीत की ध्वनियाँ, क्यों कि गेय होती हैं, अतः वे अपने श्रवणसुखद प्रभाव से सदैव रागोन्मुख रहती हैं। स्पष्ट है कि ध्वनियाँ चाहे वार्णिक हों अथवा अवार्णिक, किन्तु संगीत-रचना के सन्दर्भ में वे कभी रागविमुख नहीं हो सकतीं। कविता और गीत की वार्णिक ध्वनियों में अन्तर यह है कि कविता रागयुक्त नहीं होती और गीत रागच्युत नहीं होता। प्रश्न उठता है कि ध्वनियों के रंजक होने से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ? उत्तर स्पष्ट है कि 'बिम्ब–विधान' की। रागहीन ध्वनियों से बिम्ब–विधान का दायित्व कदाचित् पूरा नहीं हो सकता। रंजक ध्वनियाँ जब सर्वांगसुन्दर हो जाती हैं तो वे संगीतश्रोता को नाद-विषयों की श्रवण-संवेद्य प्रतीति कराने लगती हैं। दूसरे शब्दों में, सर्वांगसुन्दर रागों से नाद-

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग २' २/२३–२४, पृष्ठ २०–२१ "ग्रहांशमन्द्रताराणां··· अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते ॥"

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २६/६, पृष्ठ ७१ — "यो यदा बलवान् यस्मिन् जातिसमाश्रयात्। तत्प्रवृत्तं रसे कार्यं गानं गेये प्रयोक्तृभिः ॥"

विषयों की बिम्ब-सृष्टि की जाती है। ये राग मानसिक स्तर पर विविध नाद-विषयों के चित्र या बिम्ब होते हैं। रागों या रंजक ध्वनियों के माध्यम से विभिन्न रस और भाव अभिव्यक्त किये जाते हैं। रागों से अभिव्यक्त होने वाले रस और भाव अपने सम्बन्धित विषयों का भी श्रावणिक संवेदन कराने लगते हैं। उदाहरणार्थ — रति, शोक और वात्सल्य आदि भाव से सम्बन्धित विषय जैसे—प्रलाप करती हुई स्त्री, करुण क्रन्दन करता हुआ मनुष्य, रोता हुआ बालक इत्यादि, श्रावणिक संवेदन कराने की दृष्टि से रागों के द्वारा बिम्बित किये जाते हैं। रागों को सुनकर हम पहले विषय का नादात्मक बोध करते हैं, जैसे केहें–केहें ध्वनि; तदनन्तर विषय का रूपात्मक बोध करते हैं, जैसे रोते हुये बालक की आकृति और अन्त में भावात्मक बोध करते हैं, जैसे वात्सल्य भाव या रस की अनुभूति। बिम्ब-विधान में राग साधन हैं, साध्य नहीं। यदि राग भावाभिव्यंजक बनकर नाद-सौन्दर्य की अनुभूति में निमित्त बनते हैं तो वे साध्य भी माने जा सकते हैं। रागों से बिम्ब-विधान का निर्वाह तभी सम्भव है जब वे अभिव्यक्ति और अनुभूति पक्ष की दृष्टि से संगीत-रचना में प्रकट हों, अन्यथा सस्ते, कोरे और निरर्थक मनोरंजन मात्र से हमारी श्रवणेन्द्रिय तृप्त नहीं हो सकती। बिम्ब-विधान की उपेक्षा करने वाली रंजक ध्वनियाँ कोलाहल (Noise) मात्र का निवेदन कर सकने के कारण सहृदयों को निस्सार एवं निरर्थक प्रतीत होती हैं। बिम्ब-विधान की दृष्टि से अयोग्य राग वही हैं जो सौन्दर्यानुभूति के विषय न बनें।

(३) बिम्ब-विधान की प्रक्रिया आद्यन्त मनोवैज्ञानिक है। हम वर्तमान् में बहुत-से संगीत-कार्यक्रमों को प्रत्यक्षत: देखते और सुनते रहते हैं। संगीत-कार्यक्रमों को आँखों से प्रत्यक्ष देखने का अवसर न भी मिले तो भी रेडियो आदि मनोरंजन के साधनों से संगीत को घर बैठे सुनते रहते हैं। विविध अवसरों पर सुना गया संगीत संगीतकार और संगीतश्रोता के मन पर लगभग एक-सी ही अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, विश्रुत संगीत बिम्ब के रूप में मानस-स्थित हो जाता है। भविष्य में, संगीताभिव्यक्ति अथवा संगीतानुभूति के समय यही बिम्ब स्मृति या कल्पना की प्रेरणा से उभरने लगते हैं। यदि संगीतकार की कारयित्री प्रतिभा इन बिम्बों को रागों के माध्यम से सम्प्रेषित करती है तो संगीतश्रोता की भावयित्री प्रतिभा रागों के प्रति श्रवणेन्द्रिय को प्रवृत करके उनको ग्रहण करती है। रागों के माध्यम से सम्प्रेषित अथवा ग्रहीत किये जाने वाले बिम्बों का स्मृत बिम्बों से अवश्य सामंजस्य होना चाहिये, अन्यथा नाद-सौन्दर्य की बिम्बमयी अनुभूति न हो सकेगी। मन द्वारा स्मृति-कक्ष में संकलित किये गये बिम्ब, सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा में,

'स्मृत बिम्ब' कहलाते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में संगीतकार पहले संगीतप्रेमी का पद ग्रहण करता है, फिर संगीतश्रोता का और तदनन्तर संगीतप्रस्तोता का। वह पहले जीवन और जगत् के नादात्मक अनुभवों को चित्रों या बिम्बों के रूप में अपने स्मृति-कोटर में सुरक्षित रख लेता है, फिर उन स्मृति-चित्रों को समझने और समझाने की यथायोग्य क्षमता अर्जित करता है और अन्त में, स्मरण शक्ति को सजग बनाते हुए उन स्मृति-बिम्बों को रागों के माध्यम से निरूपित करता है। यही बात थोड़े-बहुत अन्तर के साथ संगीतश्रोता के विषय में भी कही जा सकती है। संगीतकार और संगीतश्रोता दोनों प्रयोजनवश राग-विधान को आत्मीय बनाने की साधना करते हैं। इन दोनों के स्मृति-कक्ष में यदि ऐसे बिम्बों का स्थायी निवास नहीं तो वे संगीत-सृजन या संगीत-मनन में किस का स्मरण करेंगे? निश्चय ही ऐसे कलाकार 'स्मृति-दरिद्री' कहे जाते हैं। यहाँ एक सम्भावना है कि यदि स्मृति रूपी कोठरी में कोई भी पूर्वानुभूत बिम्ब सुरक्षित नहीं है तो ये लोग कल्पित बिम्ब की अभिव्यक्ति या अनुभूति करेंगे। संगीतप्रेमी गुनगुनाने की प्रणाली से ऐसे राग को जन्म देने का प्रयास करते हैं जो उनके स्मृत बिम्ब अथवा कल्पित बिम्ब का सर्वथा सम्मूर्तन कर सके। संगीतकार नाद-विषयों के बिम्बों को गेय या वाद्य संगीत से निरूपित करने का जितना ही अच्छा प्रयास करेगा, संगीतश्रोता उनका उतना ही श्रवणसुलभ बोध कर सकेगा। कलाकारों की संगीतात्मक स्मृति जितनी ही प्रखर होगी, उनकी संगीताभिव्यक्ति अथवा संगीतानुभूति उतनी ही बिम्बमयी होगी। जहाँ भी स्मृति का अभाव होगा, वहाँ संगीत निश्चय ही कलाशून्य होगा। फलस्वरूप इस दशा में रचे गये राग बिम्ब-सृष्टि में तत्पर न हो सकेंगे। स्मृति-दरिद्री संगीतकारों के मानस-पटल पर प्रायः बिम्ब अंकित नहीं हो पाते अथवा अंकित होने पर भी दीर्घकालीन अमिट छाप नहीं छोड़ पाते। जो संगीतप्रेमी कानों से सुनने की अपेक्षा मन से सुनने के अभ्यासी है, वे बिम्ब-सृजन या बिम्ब-ग्रहण में अधिक सफल रहते हैं। संगीतकार यदि रागों पर ध्यान केन्द्रित न कर उनके विषयों पर ध्यान केन्द्रित करता है, तो संगीतकला के श्रावणिक बिम्ब अधिक सारगर्भित होंगे। रंजक ध्वनियों को न सुनकर, रंजक ध्वनियों से व्यंजित विषयों को सुनने का प्रयास करना चाहिये। बिम्ब-विधान की रूपरेखा इस प्रकार सम्पन्न होती है–

संगीत-श्रवण → संगीत-स्मरण ← संगीत-सृजन

एक संगीतकार ऐसे श्रावणिक बिम्बों का निर्माण करता है जो पूर्वानुभूत नाद-विषयों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं और दूसरा संगीतकार

शास्त्रज्ञ होते हुए भी ऐसे श्रावणिक बिम्ब की न तो अनुभूति कर पाता है और न अभिव्यक्ति । निश्चय ही दूसरे संगीतकार के अभिव्यक्त राग बिम्बहीन होंगे, क्योंकि उसका मन या तो स्मृति–दरिद्री होगा या प्रतिभा–दरिद्री । जिस प्रकार हम स्वप्नावस्था में अरण्य-कोलाहल को सुनते और देखते हैं, उसी प्रकार जागृतावस्था में रागों से निरूपित अरण्य–कोलाहल को सुनते और देखते भी हैं । इस प्रक्रिया में स्मृति या कल्पना सक्रिय रहती है । अतः रागों से बनने वाले श्रावणिक बिम्ब या तो स्मृत बिम्ब होंगे या कल्पित बिम्ब । इतना ही नहीं, रागाभिव्यक्ति अथवा रागानुभूति के समय संगीतकार और संगीतश्रोता के ऊपर नादब्रह्म का वरद हस्त, परम आनन्द का वरदान देने के लिये उठ जाता है । जैसे-जैसे स्मृति से संगीतकार रागों को सर्वांगसुन्दर बनाता है, वैसे-वैसे श्रोताओं के दिव्य चक्षुओं के समक्ष स्मृति में रखे हुए नाद–विषयों के बिम्ब एक-एक करके प्रकट होने लगते हैं । श्रोता स्मृति की दुनियाँ में मेधावी बन कर दौड़ने लगता है । उदाहरणार्थ–रागों से रचित विरह–विलाप को सुनकर भुक्तभोगी श्रोता के समक्ष सफल या असफल प्रणय–गाथा का बिम्ब मूर्तवान् हो जाता है, अन्यथा किसी अज्ञात प्रेमी का काल्पनिक बिम्ब उसको विरहातुर बना देगा । संक्षेप में, संगीतकार और संगीतश्रोता दोनों स्मृति के अथवा प्रतिभा के दरिद्री न हों, अन्यथा रागों से सम्प्रेष्य बिम्ब न तो अभिव्यक्त हो सकेंगे और न अनुभूत ।

(४) बिम्ब-विधान में श्रवणेन्द्रिय का दुर्निवार महत्त्व है । श्रवणेन्द्रिय-संवेदन के बिना कोई भी बिम्ब बोधगम्य नहीं हो सकता । रागों के माध्यम से निर्मित बिम्ब श्रवण–मार्ग से होते हुए संगीतात्मक मन में पहुँचते हैं। प्रश्न है कि 'श्रावणिक बिम्ब' अभिधान से कौन-सा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है ? उत्तर स्पष्ट है कि रागों के माध्यम से रचित बिम्ब संगीतकार और संगीतश्रोता के द्वारा अपने-अपने अतीत अनुभवों के सन्दर्भ में, क्रमशः अभिव्यक्ति और अनुभूति के समय श्रावणिक कसौटी पर कसे जाते हैं। इसलिये इन्हें 'श्रावणिक बिम्ब' कहते हैं । पुनः संगीतकार के मन्तव्य को समझने के लिये संगीतश्रोता के पास इन श्रावणिक बिम्बों के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं । इन्हीं बिम्बों से वह विभावों अर्थात् सम्प्रेष्य विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है । अतः अनुभावक के श्रावणिक संवेदन को मूलाधार मान कर इन बिम्बों का नामकरण 'श्रावणिक बिम्ब' किया गया । पुनः संगीतकला में ताल (time) को मापने के लिये श्रवणेन्द्रिय ही मानदण्ड का काम करती है । तालसापेक्ष रागों से निरूपित बिम्बों को श्रवणेन्द्रिय के बिना समझा नहीं जा सकता । लय-ताल से रहित

रागों को सुनकर सहृदयों के सुषुप्त भाव जागृत नहीं हो सकते । ऐसे राग न तो श्रवणप्रिय हो सकते हैं और न श्रवणसंवेद्य । आचार्य कुम्भ के विचार तो और भी व्यापक हैं। उनके अनुसार मौखिक संगीत (गीत) को रागपरक बनाने का अर्थ उसे लय, ताल, पद, स्वर, वर्ण, गमक, आदि से सम्पन्न करना है।[1] रागाश्रित गीत-विधान में ये सभी तत्त्व मिलकर श्रवणसुखद संसार रचते हैं । इस दृष्टि से भी इन बिम्बों को 'श्रावणिक' विशेषण से सज्जित करना अनुचित नहीं । पुनः जो रंजक ध्वनियाँ श्रोता के कानों में बहुत समय तक अनुभवतः नहीं गूँजनें पातीं वे बिम्बविधायिनी किस प्रकार सिद्ध होंगी ? उदाहरणार्थ-श्रोता को गीत का शब्दशः स्मरण भले न रहे, किन्तु कर्णगह्वर में गुंजायमान नाद से अतीत भावों का स्मरण अवश्य होना चाहिये। रागों से व्यंजित भाव यदि नाद-गौरव से समृद्धिशाली नहीं हैं तो संगीतश्रोता उनसे सम्बन्धित विषयों का बिम्ब-रूप में मनसा साक्षात्कार न कर सकेगा। रूप-सौन्दर्य की अनुभूति में नेत्र भले सहायक बने किन्तु नाद-सौन्दर्य की बिम्बात्मक अनुभूति में तो श्रवणेन्द्रिय ही उपकारक बनती है । दूसरे शब्दों में संगीतकला के अन्तर्गत नाद-बोध, रूप-बोध और भाव-बोध में श्रवणेन्द्रिय ही सहायक होती है (दे० पूर्वपृष्ठ) । इसलिये भी 'श्रावणिक बिम्ब' नाम सार्थक है । जीवन और जगत् के सम्पूर्ण संगीतात्मक व्यापारों का ज्ञान करने के लिये हमारे पास एकमात्र श्रवणेन्द्रिय ही तो साधन के रूप में विद्यमान है। संक्षेप में रागों का प्रयोजन भावों, विचारों एवं तत्सम्बन्धी विषयों को श्रावणिक बिम्बों के रूप में अभिव्यक्त करना है । हमारा अनुभव प्रमाण है कि श्रोतागण किसी सुने गये गीत को प्रायः गुनगुनाया करते हैं, क्यों कि रागबद्ध गीत किसी ध्वन्यात्मक विषय के बिम्ब या चित्र को कर्ण-प्रियता के कारण श्रोता के मन पर अंकित कर देता है।

अन्त में, रागों के माध्यम से रचित ये बिम्ब नाद-विषयों की यथार्थ स्थिति या सत्ता का ज्ञान कराते हैं । संगीतकार और संगीतश्रोता इन बिम्बों के सहयोग से एक दूसरे के प्रति दूरदर्शी बनते हैं। संगीत का आनन्द मात्र उसके कर्णप्रिय होने में नहीं है, अतः अपने तात्त्विक अस्तित्व के लिये उसे भी रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान करना पड़ता है।[2] यदि राग-विधान में इन सभी निर्देशों की अवहेलना की जाती है तो वे बिम्बविधायक सिद्ध नहीं हो सकते । अन्य

---

१. 'भरतकोश' पृष्ठ १७६ पर

२. 'काव्यात्मक बिम्ब' पृष्ठ १७४-१७५

सभी समस्याओं पर चाहे उतना ध्यान न दिया जाये किन्तु राग-विधान में ताल प्रकरण की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते। पुनश्च ताल के सभी अंगों का राग-विधान में पालन भले न हो किन्तु 'लय' का अवश्य निर्वाह होना चाहिये। लयहीन राग कदापि बिम्बविधायक नहीं हो सकते। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में लय का रस से सम्बन्ध दिखलाने का यही प्रयोजन है। मध्यम लय से हास्य और शृंगार रस की, विलम्बित लय से वीभत्स और भयानक रस की तथा द्रुत लय से वीर, रौद्र और अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की जाया करती है।[1] यह सर्वविदित है कि लययुक्त राग हमारी श्रवणेन्द्रिय को अधिक संवेदित करते हैं। यहाँ एक बात और शेष रह जाती है, यह कि रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान करने में प्रकृति अपना अमूल्य सहयोग देती है। जिस प्रकार भूमण्डलीय पदार्थ, द्रव्य, द्रव आदि चाक्षुष विषय एक-दूसरे से निसर्गतः या प्रयासतः संयोजित हो सकते हैं, उसी प्रकार वायुमण्डलीय ध्वनियाँ भी एक-दूसरे से निसर्गतः या प्रयासतः संयोजित होती हैं। उदाहरणार्थ– संगीत-रचना में स्वर एक के बाद एक–क्रम में अनुरणित किये जाते हैं। पहला स्वर हमारी श्रावणिक संवेदना से विलीन नहीं होने पाता कि दूसरा स्वर श्रवणगोचर होने लगता है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। जिस दूसरे स्वर को वर्तमान में सुनते हैं, उसकी दृष्टि से पहला स्वर भूतकालिक हुआ और तीसरा स्वर भविष्यकालिक। निसर्ग तीनों कालों से सम्बन्धित स्वरों को अपने नादात्मक वातावरण से बोधगम्य बना देती है। सुने जा चुके, सुने जा रहे और सुने जाने वाले स्वर निसर्गतः एक-दूसरे से संयोजित होकर श्रवणसुखद रागों को जन्म देते हैं। यदि राग-विधान में (भौतिक) जड़ प्रकृति ही सहायक बनी और (मानुषिक) चेतन प्रकृति निश्चेष्ट रही तो रागों से बिम्ब का विधान कदापि सम्भव नहीं। उपर्युक्त सभी बातों का यदि ध्यान रखा जाये तो रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

भारतीय संगीतकला में बिम्ब-विधान के प्रति आग्रह—शास्त्रीय संगीत में ही नहीं, अपितु वैदिक संगीत अर्थात् साम संगीत में भी बिम्ब-विधान के प्रति आग्रह था। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न सामों के द्वारा व्रात्य का संरक्षण किया जाता था। वसन्त ऋतु में बृहत् और रथन्तर नाम के सामों को; ग्रीष्म ऋतु में यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य नाम के सामों को;

१. 'विष्णुधर्मोत्तरमहापुराण' खण्ड ३/अध्याय १८/पत्रांक ३१५–तथा लयाः हास्य-शृङ्गारयोर्मध्यमाः। वीभत्सभयानकयोर्विलम्बिताः। वीररौद्राद्भुतेषु द्रुताः।"

वर्षा ऋतु में वैरूप और वैराज नाम के सामों को तथा शरद ऋतु में श्यैत और नौधस नाम के सामों को गाया जाता था।[१] इसका प्रयोजन यही था कि ये सामगान उन-उन ऋतुओं में अपनी आकृति-प्रकृति के अनुसार श्रोताओं को न केवल नादमुग्ध कर लेते थे अपितु व्यंजित विषयों की बिम्बात्मक अनुभूति भी कराते थे। अथर्ववेद में अन्यत्र वर्षा की अभ्र से लेकर वृष्टि-शान्ति तक की विभिन्न अवस्थाओं का साम के पंचविध विभागों से सामंजस्य स्थापित किया गया है। मेघों का घिरना 'हिंकार' के समान; मेघों का गरजना 'प्रस्ताव' के समान; विद्युत्माला का चमकना 'प्रतिहार' के समान; मेघों का बरसना 'उद्गीथ' के समान और वर्षा का शान्त होना 'निधन' के समान बतलाया गया है।[२] इस प्रकार की समता दिखलाने का प्रयोजन पंचविध सामगान के नाद-सौन्दर्य में अन्तर्निहित बिम्बविधायिनी गरिमा का उद्घाटन करना था। साम संगीत के बिम्ब-विधान की पृष्ठभूमि बहुत व्यापक है, जिसका निदर्शन करना यहाँ सम्भव नहीं। तत्कालीन संगीतप्रेमी उक्त क्रम से बिम्ब-विधान की व्याख्या करते रहे होंगे। छान्दोग्योपनिषद् में भी जीवन और जगत् के विविध व्यापारों वा व्यवहारों का साम संगीत से सामंजस्य स्थापित किया गया है। अथर्ववेद के निर्दिष्ट प्रसंग को किंचित् परिवर्तन के साथ छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार दोहराया गया है। वर्षा के पूर्व आर्द्र हवा का चलना 'हिंकार' के समान; मेघों का घिरना 'प्रस्ताव' के समान; मेघों का बरसना 'उद्गीथ' के समान; बिजली का चमकना आदि 'प्रतिहार' के समान और मेघों का तितर-बितर होना 'निधन' के समान माना गया है।[३] छान्दोग्योपनिषद् में अन्यत्र उक्त पंचविध साम का क्रमशः बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया है।[४] निष्कर्षतः वैदिक साम संगीत में भी बिम्ब-विधान के प्रति आग्रह परिलक्षित होता है। समय या ऋतु विशेष में विशेष प्रकार के साम, विशेष रूप से रचे और सुने जाते थे।

---

१. 'अथर्ववेद तृतीय भाग' १५/४/२, ५, ८, ११; पृष्ठ १५७१-१५७२

२. वही भाग २, ९/११/६-७, पृष्ठ ११९४-११९५ "तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्-कृणोति स्तनयन् प्रस्तौति। विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम्।"

३. 'छान्दोग्योपनिषद्'२/२/१,पृष्ठ ६६ "वृष्टौ पञ्चविधम् सामोपासीत्, पुरो वातो हिङ्कारो, मेघो जायते स प्रस्तावो, वर्षति स उद्गीथो, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः, उद्गृह्णाति तत् निधनम्।"

४. वही २/५/१, पृष्ठ ६८ "ऋतुषु पञ्चविधम् सामोपासीत्, बसन्तो हिङ्कारो, ग्रीष्मः प्रस्तावो, वर्षा उद्गीथः, शरत्प्रतिहारो, हेमन्तो निधनम्।"

शास्त्रीय संगीत में बिम्ब-विधान के प्रति आग्रह होने की बात हमारे प्रस्तुत अध्याय से प्रमाणित हो जाती है। शास्त्रीय संगीत भावाभिव्यंजक रागों के गौरव से गौरवान्वित है। रंजक ध्वनियों के विशेष विधान से गाया जाने वाला यह संगीत कलावन्तों को अपने 'बिम्बविधायक' के अस्तित्व से रस-विभोर करता रहा है। ये राग विशेष ऋतु और काल के अनुरूप सहृदय के सुप्त भावों को जगाने की क्षमता रखते हैं। भारतीय संगीतकला में इन रागों की गणना के सन्दर्भ में अनेक मत प्रचलित रहे हैं। ६ रागों एवं ३६ रागिनियों की किंवदन्ती या परम्परा प्राचीन काल से अनुमोदन पाती आ रही है।[१] इस विषय में प्रमुख ७ मत प्रचलित हैं—भरत मत, शिव मत, कृष्ण मत, हनुमान मत, कल्लिनाथ मत, सोमेश्वर मत एवं इन्द्रप्रस्थ मत।[२] ६ रागों एवं ३६ रागिनियों के परिणय से भारतीय संगीतकला दिन-प्रतिदिन गौरवान्वित होती गई। कुछ आधुनिक समीक्षक 'शिव मत' के अनुसार ६ रागों एवं ३६ रागिनियों का अनुशीलन करते हैं।[३] राग-रागिनियों की कोई एक सर्वसम्मत संख्या एवं नामावली निश्चित नहीं है। अहोबल ने १२५ राग गिनाते हुए उनकी अनन्त संख्या का निर्देश किया है।[४] सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से यहाँ राग-रागिनियों की विस्तृत समीक्षा करना अभीष्ट नहीं।

बिम्ब-विधान में भाग लेने वाले राग दो प्रकार के होते हैं—(१) मार्ग राग या भाषा राग तथा (२) देशी राग। इन्हीं को क्रमशः प्राचीन और नवीन राग कहते हैं।[५] भारतीय संगीतकला में प्रायः समस्त रागों को गाने का समय निश्चित है। ऐसा विधान करने का प्रयोजन यही है कि इन भावाभिव्यंजक रागों से देश, काल, पात्र की मर्यादा के अनुकूल अभीष्ट विषयों का बिम्ब-विधान किया जा सके। हरे-भरे उपवन में, सुहावनी बसंत ऋतु में विरहोद्दीपक दीपक राग को मध्यम लय और ताल के साथ गाने से विरही श्रोता क्यों भाव-विह्वल हो जाते हैं? राग का सम्बन्ध देश, काल, पात्र से इसीलिये दिखलाया गया है कि वे अपने श्रवणसुखद संवेदन या प्रभाव से श्रोता के मानस-पटल पर किसी नाद-विषय को बिम्बित कर दें। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार

---

1. See 'Six Ragas And Thirty Six Raginis of Hindus'
२. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ २०१
३. वही, पृष्ठ २०२
४. 'संगीतपारिजात' श्लोक ४९१, पृष्ठ १६३
५. 'संगीतशास्त्र' पृष्ठ ७४

प्राचीन राग ६ हैं– भैरवी, श्री, मालकौस, दीपक, मेघ और हिन्दोल। इनमें से प्रथम तीन प्रातःकाल, सायंकाल और मध्यान्हकाल में गाये जाते हैं और शेष तीन क्रमशः ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शरद् ऋतु में।[1] राग-गान का समय निर्धारण करने का औचित्य यही है कि यदि निर्दिष्ट समय के अनुसार संगीत-रचना में इनको अभिव्यक्त किया जाये तो उनसे बिम्ब-विधान का यथासम्भव निर्वाह होगा। हमारे प्राचीन आचार्यों का भी इस मर्यादा के प्रति आग्रह था। उदाहरणार्थ– संगीतमकरन्दकार ने प्रातःकाल गाये जाने वाले रागों की संख्या लगभग २० बतलाई है।[2] इतना ही नहीं, हमारे यहाँ रागों के नाम प्रायः भौगोलिक हैं। निष्कर्षतः रागों का इतना व्यावहारिक अनुशीलन करने का एकमात्र प्रयोजन बिम्ब–विधान का रहस्योद्घाटन करना है। अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद का यह विचार माननीय है कि संगीतकला के विभिन्न राग, कविताओं की भाँति एक निश्चित भाव-भूमिका का निर्वाह करते हुए रसोद्रेक में सहायक होते हैं, क्योंकि उनसे मनुष्य की विभिन्न चित्तवृत्तियों की विषयसम्मत अभिव्यंजना होती है।[3] कहाँ तक वर्णन करें, देखो संगीतमकरन्दकार ने तो रागजनक सप्त स्वरों के रंग भी निर्धारित कर दिये हैं। उनके अनुसार षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों के क्रमशः कमल, पिंजर, स्वर्ण, कुन्द, सित, पीत और कर्बुर रंग नियत हैं।[4] इसका प्रयोजन यही है कि अमुक रंग वाले अमुक स्वर विशेष को वादी या बलवान् स्वर मान कर रचित किये जाने वाले राग का बिम्बमय जीवन जाना जा सके। रागों के बिम्बात्मक प्रभुत्व को समझने के लिये ही रागजनक स्वरों के पहिचानमूलक या परिचयमूलक रंग निर्धारित किये गये हैं। भारतीय संगीताचार्यों ने राग–रागिनियों को रेखा-चित्रों द्वारा भी अंकित किया है। राग का चित्र में चित्रण देखकर कोई भी समझ सकता है कि अमुक-अमुक रागों का अमुक-अमुक प्रकार की भाव-दशाओं से सम्बन्ध है।[5] किसी राग को रेखाकृतियों से निरूपित करने का उद्देश्य बिम्ब-विधान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? पाश्चात्य विद्वान् पोपले महोदय ने बिम्ब-विधान से सम्बन्धित कुछ सारगर्भित

---

१. 'संगीत की कहानी' पृष्ठ १६
२. 'संगीतमकरन्द' तृतीय पाद/श्लोक १०-१२, पृष्ठ १४-१५
३. 'काव्यात्मक बिम्ब' पृष्ठ १७६
४. 'संगीतमकरन्द' संगीताध्याय /प्रथम पाद/श्लोक ३१–३२. पृष्ठ ४
५. 'भारतीय कला का सिंहावलोकन' पृष्ठ ६

सूचनायें दी हैं—(१) मैनचेस्टर विश्वविद्यालय के प्रो० डैल्बे ने संगीत और रंग के आन्तरिक सम्बन्धों पर कुछ प्रयोग किये हैं; (२) लंदन के एक संगीत महाविद्यालय में रंग-विधान के अनुसार स्वरों का ज्ञान कराया जाता है; (३) पर्सीब्राउन महोदय ने संगीतकला का सम्बन्ध चित्रकला के साथ जोड़ा है—इत्यादि ।[1] बिम्ब-विधान के जिन विषयों पर आज पाश्चात्य विद्वान् विचार कर रहे हैं, उनकी तात्त्विक व्याख्या हमारे संगीताचार्य हजारों वर्ष पहले (वैदिक काल में) ही कर चुके हैं । बिम्ब-विधान को वैदिक ऋषि भी औपचारिक मान्यता दे चुके हैं। बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में हमारे आचार्यों के विचार नितांत वैज्ञानिक हैं, उदाहरणार्थ रागों को चित्राकृतियों के माध्यम से समझाने का प्रयास निराधार नहीं है । ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से, यदि सप्त स्वरों को ध्वनिचित्रक यंत्र (oscilloscope) के द्वारा चित्रित किया जाये तो प्रत्येक स्वर की ध्वनि-लहरें निश्चित आकार-प्रकार वाली बनेंगी। हमारे संगीताचार्यों ने उस युग में वैज्ञानिक यंत्रों के अभाव में भी बिम्बविधायक रागों की जो विशद समीक्षा प्रस्तुत की है, उसका क्या कम महत्त्व है ?

बिम्ब-विधान के लिये सजग संगीताचार्यों ने संगीत-आयोजन से सम्बन्धित उपयुक्त वाद्य, उपयुक्त स्थान, उपयुक्त समय और उपयुक्त कलाकार आदि तथ्यों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । वास्तव में, निर्दिष्ट विधि से यदि रागों की अभिव्यक्ति हो तो वे निश्चय ही बिम्बविधायक सिद्ध होंगे । उदाहरणार्थ—आज के फिल्मी संगीत में उपर्युक्त बातों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है, जिससे फिल्मी संगीत में व्यक्त किये गये राग अधिक बिम्बोद्बोधक रूप में सुने और समझे जाते हैं। हमारे यहाँ यह प्रथा प्रचीन युग में विद्यमान थी। संगीताचार्य रागों पर निर्भर रहने वाले बिम्ब-विधान को ५ क्रमों में पूरा करते थे—अभ्यास, अभिरुचि, अनुभव स्मरण और अभिव्यंजन। भारतीय संगीतप्रेमी यह साधना युगों-युगों से करते आये हैं। वे कलागत संगीत में ही नहीं, अपितु प्रकृतिगत संगीत में भी बिम्ब-विधान का अनुसंधान करते रहे हैं। देखिये महर्षि वाल्मीकि के संगीतोद्गार—एक ओर भौरों के मधुर गुंजार की वीणा अनुरणित हो रही है; एक ओर मेढकों की 'टर्-टर्' आवाज़ कण्ठ-ताल का अनुगमन कर रही है; एक ओर मेघों की 'गड़गड़ाहट' मृदंग की गमक के समान ध्वनित हो रही है—इस प्रकार अन्य उपादानों से अलंकृत ध्वनियों के साथ सारा बन-प्रान्त संगीतमय हो

---

1. 'The Music of India' page 69

गया ।[1] कथन से स्पष्ट है कि कवि ने मानस-स्थित कोलाहलपूर्ण अरण्य-दृश्य की मर्मस्पर्शी किन्तु यथार्थ अभिव्यक्ति की है। कवि प्रकृतिगत संगीत और कलागत संगीत के बिम्ब-विधान से अनभिज्ञ नहीं है। संगीतकार इस कोलाहलपूर्ण अरण्य-दृश्य का, रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान कर सकते हैं। वास्तव में, हमारा बिम्ब-विधान के प्रति आग्रह रहा है। 'मृच्छकटिक' नाटक में शूद्रक भी रागों के माध्यम से किये जाने वाले बिम्ब-विधान के नूतन अस्तित्व एवं अमिट प्रभाव को स्वीकार करते हैं।[2] सच है कि संगीत-कला का जीवन रागों पर निर्भर है। इन्द्रिय और अतीन्द्रिय बोध के सभी विषय रागों के माध्यम से निरूपित किये जा सकते हैं। जीवन और जगत् के नादात्मक विषयों की बिम्बात्मक अनुभूति कराते हुए हमें ये राग रागमय बनाते हैं। राग के प्रति राग रखनेवाले सहृदय, तद्विषयक नाद-सौन्दर्य से रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य को भी आत्मीय बना लेते हैं। भारत में जन्म लेने वाले संगीतनिर्देशक या संगीताचार्य, संगीतप्रस्तोता और संगीतश्रोता इन रागों के प्रति युग-युग से लालायित रहे हैं, क्योंकि राग अभिरुचि के सम्पादक हैं। इस प्रकार भारतीय संगीतकला में बिम्ब-विधान भी सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से सर्वांगीण है।

---

१. 'श्रीमद्वाल्मीकिरामायण' किष्किंधा काण्ड ५/ सर्ग २८/श्लोक ३६—
"षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं, प्लवङ्गसोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु संगीतमिव प्रवृतम् ॥"

२. 'मृच्छकटिक' अंक ३/श्लोक ५, पृष्ठ १०६—
"तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनम्,
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागाद्विरुच्चारितम्,
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि श्रण्वन्निव ।।"

पंचम अध्याय

सौन्दर्य-विधान

'सौन्दर्य का अर्थ एवं स्वरूप क्या है'– इस जिज्ञासा का समाधान किये बिना हम सौन्दर्य-विधान के विवेचन में प्रवृत नहीं हो सकते। पहले यह जान लें कि नाद के बिना न तो संगीत की कल्पना कर सकते हैं, न स्वरों की कल्पना कर सकते हैं और न रागों की।[1] यह कथन सत्य है कि जीवन और जगत् के सम्पूर्ण व्यापार येन-केन-प्रकारेण नादाधीन हैं। अतः संगीतकला में 'सौन्दर्य' का तात्पर्य 'नाद-सौन्दर्य' से है। नाट्यशास्त्र में, सामान्य रूप से, गेय संगीत को सुन्दर बनाने वाले कुछ तथ्यों का एकत्र वर्णन है। तदनुसार गेय संगीत में नाद–सौन्दर्य का स्वरूप इस प्रकार है—स्वरों की परिपूर्णता, वर्णो की विचित्रता, उच्चारण-स्थानों की रमणीयता, त्रिविध लय की सम्पन्नता, त्रिविध मार्गो की उपादेयता, रागों की रंजकता, ताल की समता, ध्वनियों की श्लक्ष्णता और अलंकार–निष्ठता, श्रवणमधुरता और श्रवणप्रियता से युक्त गान क्रिया सुन्दर किंवा प्रशस्त मानी जाती है।[2] नाट्यशास्त्रकार के विचारों का समादर करते हुए, मौखिक संगीत और वाद्य संगीत की दृष्टि से, हम अपनी व्यवस्थित भाषा में नाद–सौन्दर्य का स्वरूप इस प्रकार निरूपित कर सकते हैं–स्वरों के प्रतीकमय व्यवहार से, प्रतिभा के रचनात्मक व्यापार से, रागों के बिम्बमय संसार से, वार्णिक एवं अवार्णिक ध्वनियों के अलंकारमय विस्तार से, संगीतवृत्तियों के रीतिमय उपचार से, संगीत-रचना के यथोचित अर्थात् औचित्यमय अधिकार से अभिव्यक्त होने वाला संगीतात्मक नाद श्रवणमधुर और हृदयविमोहक होने के कारण सुन्दर या सरस कहा जाता है। इसी संगीतात्मक नाद को सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा में नाद-सौन्दर्य कहते हैं। नाट्यशास्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट सभी तथ्यों का प्रस्तुत सन्दर्भो में ही विषयानुसार समावेश हो जाता है।

---

१. 'संगीतदामोदर'द्वितीय स्तवक/पृष्ठ१६"न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वरः। न नादेन बिना रागस्तस्मान्नादात्मकं जगत्।"

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३२/४३५ "पूर्णस्वरं चाऽथ विचित्रवर्णं त्रिस्थानशोभि त्रिलयं त्रिमार्गम्। रक्तं समं श्लक्ष्णमलंकृतं च सुखं प्रशस्तं मधुरं च गानम्।

संगीतकला की सौन्दर्य-मीमांसा के दो आधार हैं—प्रातिभ ज्ञान और लोकोत्तर आनन्द।[1] जो संगीत-रचना प्रातिभ ज्ञान की उपज नहीं है, वह कदापि सुन्दर नहीं हो सकती और जो संगीत-रचना सुन्दर नहीं है वह कदापि अलौकिक आनन्द नहीं दे सकती। संगीत - प्रदर्शन चाहे वैयक्तिक हो और चाहे सामूहिक, किन्तु सौन्दर्यहीन संगीतात्मक नाद हमें भाव-विभोर नहीं कर सकता। श्रवणमधुर और हृदयविमोहक नाद-सौन्दर्य से सहृदय श्रोता प्रतिभावशी योगियों की भाँति ध्यानमग्न होकर रागपरक नाद का निर्विघ्न रसास्वादन या सौन्दर्यास्वादन किया करते हैं। स्पष्ट है कि संगीतकला में हम जिस नाद-सौन्दर्य की बात करते हैं, वह पूर्णतया रागाश्रित या रागात्मक होता है। श्रोता के हृदयस्थ भावों को जगाने वाला यही रागात्मक नाद है। संगीतकार किसी मध्यस्थ की अपेक्षा किये बिना सीधे-सीधे सभी कुछ संगीतश्रोता से निवेदन कर देता है। उसका यह आत्म-निवेदन नाद-सौन्दर्य का वाहक होता है। नाद-सौन्दर्य की अनुभूति मूलतः श्रावणिक अनुभूति है। संगीतकार के हृदय में जन्म लेने वाला नाद संगीत श्रोताओं के हृदय में भी वैसे ही भावित हो उठता है। यह तभी संभव है, जब कि संगीतकार और संगीतश्रोता के हृदय अपने-अपने कार्यों में समान रूप से संलग्न हों। यदि संगीत की अभिव्यक्ति हृदय से होती है तो उसकी अनुभूति भी हृदय से ही होगी बुद्धि से नहीं। हृदय का उद्वेलन प्रतिभा करती है। जब संगीतकार अथवा संगीतश्रोता की प्रतिभा एक-दूसरे के हृदय की बातें सुनने में तत्पर नहीं होती, तो बेचारे कान क्या तत्पर हो सकेंगे? हम जानते हैं कि कभी-कभी कानों के रहते हुए भी हम नहीं सुनते और आँखों के रहते हुये भी नहीं देखते, क्योंकि हमारी प्रतिभा संगीत-विषय की ओर आकर्षित न होकर कहीं अन्यत्र भ्रमण किया करती है। संगीतप्रस्तोता और संगीतश्रोता के चैतन्य मन ऐसे समय में प्रायः अचेतन-से बन जाते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य की बिम्बात्मक अनुभूति में कुछ उपादानों की आवश्यकता होती है, जैसे—नैसर्गिक निपुणता, अभिरुचि, स्वभाव, शिक्षा, पैतृक ज्ञान, सामाजिक प्रोत्साहन, श्रवणेन्द्रिय की संवेदनशीलता इत्यादि। संगीतात्मक नाद का सुन्दर या असुन्दर लगना बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर है।

संगीताभिव्यक्ति अथवा संगीतानुभूति के समय यदि कान आँखों की अपेक्षा नहीं करते तो ऐसे नाद की विचित्र सुन्दरता आनन्ददायिनी होगी। जैसा कि बार-बार उल्लेख कर चुके हैं कि संगीतात्मक नाद को सुन्दर बनाने में 'तालज्ञान' का विशेष हाथ है। तालहीन नाद कभी श्रवणसंवेद्य

1. 'Creative Intuition In Art And Poetry' Page 161

नहीं हो सकता। उद्गम (मुख या वाद्य) से लेकर गन्तव्य (कान) तक नाद-वेग निरन्तर संतुलित रहना चाहिये। प्रकृति न केवल भौतिक नाद को ही श्रवणमधुर बनाती है अपितु संगीतात्मक नाद को भी। दूसरी ओर कलाकार काव्यकला के शब्दों की भाँति संगीतकला के सार्थक स्वरों से रागात्मक नाद को रसमेशल बना देता है। संगीतकला के स्वप्त स्वरों से बनने वाले अनन्त राग हलचल मात्र का निर्वाह नहीं करते। संगीतश्रोता लय-बधिर नहीं होते। अतः हम सरस रागों को ही सुनना पसंद करते हैं। रागात्मक-नाद लय-ताल आदि के चारु सन्निवेश से सुन्दर बनता है। उदाहरणार्थ—समूहगान में अनेक गायकों के द्वारा गान करने पर भी हम लय-ताल के कारण एक ही रागात्मक नाद का श्रवणसुखद बोध करते हैं।

संगीतात्मक नाद का सुन्दर लगना या न लगना हमारी अभिरुचि पर निर्भर है। अभिरुचि का सम्पादन करने के लिये उसे देश, काल, पात्र आदि के अनुरूप अभिव्यक्त होना चाहिये। ऐसा कहने का आशय यह नहीं कि हमारी अभिरुचि वैज्ञानिकता का आश्रय ले। वैज्ञानिक तो यह कहते हैं, कि संगीतात्मक नाद क्रमशः बाहिरी, मध्यवर्ती और भीतरी कान से प्रवाहित होता हुआ, भीतरी कान में विद्यमान तरल पदार्थ को तरंगित करता हुआ, निकटवर्ती नाड़ी-संस्थान से मन को सुनने के लिये उद्बोधित करता है। किन्तु कला-लोक में नाद-सौन्दर्य की अनुभूति करते समय हम भावुक कहे जाते है, वैज्ञानिक नहीं। संगीतात्मक नाद का श्रवणमधुर होना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु अलौकिक आनन्द के उपहार-हेतु उसे भावोपेत होना पड़ता है। इस सन्दर्भ में कलाकार का व्यक्तित्व स्वयं रोचक होना चाहिये। यदि संगीतकार अथवा संगीतश्रोता की सुनने की क्षमता ह्रासोन्मुख है तो उसके व्यक्तित्व का यह दोष रागात्मक नाद को सुन्दर नहीं बनने देगा। इसलिये यह कहा गया कि रागात्मक नाद को देश, काल और पात्र के औचित्य से अभिव्यक्त होना चाहिये। जो समाज जितना ही संगीतप्रेमी होगा, वहाँ की संगीतकला का व्यावहारिक जीवन सामान्यतः उतना ही सुन्दर, सरस, रोचक एवं समृद्धिशाली होगा। जिस संगीतात्मक नाद को हम सुनते हैं, वह सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से सर्वांगसुन्दर होता है। संगीतात्मक नाद में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' का सन्देश अन्तर्निहित रहता है। सब मिलाकर, संगीतात्मक नाद के सुन्दर या असुन्दर प्रतीत होने का निर्णय हमारी अभिरुचि करती है, सम्पूर्ण संगीत-कर्म का सम्पादन, इस बात को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये। संगीतात्मक नाद वही सुन्दर है जिसके लक्षण इस प्रकार हों—जो श्रवणमधुर या श्रवणसुखद, हृदयविमोहक या भावोद्बोधक,

मनोरंजक या चित्ताकर्षक हो; जो प्रतीक, बिम्ब, प्रतिभा, ,अलंकरण, शैली, औचित्य आदि तत्त्वों से सुशोभित हो; जो मुख से या वाद्य से आहतमूलक होकर आकाशीय गुण के रूप में अपने रागमय अस्तित्व के द्वारा विषय और विषयी का प्रतिनिधित्व करे; जो अभिव्यक्ति पक्ष और अनुभूति पक्ष में नाद-बोध के साथ-साथ रूप-बोध एवं भाव-बोध का सम्पादन करे——इत्यादि। नाद के सौन्दर्य की महिमा अपरम्पार है। वह अपने सौन्दर्य से सम्पूर्ण चराचर जगत् को सौन्दर्यमय बना रहा है।

जीवन की क्रोड़ में क्रीड़ा करने वाली आकांक्षायें नाद-सौन्दर्य के गीत गाती हुई मानव को 'सुखं जीवेत्' का सन्देश देती रही हैं। जीवन के संघर्षों से उद्विग्न मानव निर्जन में गुनगुनाते हुए उसी की साधना करता है। उसी की कृपा से वह भाव-जगत् के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पर अधिकार कर मन ही मन अपूर्व आनन्द अनुभव करता है। उसके हृदय-सरोवर से रसवती निर्झरिणी उद्गत होकर मधुर निनाद करती हुई अपनी लहरों से सम्पूर्ण जगत् को प्लावित कर देती है। अतः यदि यह कहा जाये कि संगीतकला का अन्य कलाओं में सर्वोपरि स्थान है तो कोई अत्युक्ति न होगी। कारण है—चित्रकार, मूर्तिकार, नृत्यकार, नाट्यकार, काव्यकार आदि सभी कलाकार कलाकृतियों के माध्यम से अपने जीवन के अनुराग-विराग का ही तो यशोगान गाते हैं। शिल्प आदि कलाओं में उसका संगीत यदि मूक वाणी एवं मूक भाषा में स्पन्दित हुआ करता है तो काव्य आदि कलाओं में मुखर वाणी एवं मुखर भाषा में। प्रत्येक कलाकार पहले संगीतकार के पद पर सुशोभित होता है। शिशु-जीवन में माता-पिता उसके कर्ण-गह्वर के अन्तर्गत लोरियों के रूप में अमिट संस्कार भर देते हैं, जिसके कारण वह मृत्युपर्यन्त अपने हर्ष-विषाद के गीत भिन्न-भिन्न प्रकार से गाता रहता है। हर्ष अथवा विषाद के अतिरेक से ही उसकी वाणी शत-शत भाव-धाराओं में प्रवाहित होने लगती है। उसका भावमय संगीत कहीं मूर्ति के रूप में, कहीं चित्र के रूप में, कहीं अभिनय के रूप में और कहीं छन्द के रूप में अभिव्यक्त हुआ करता है।

इस प्रकार जीवन और जगत् में सर्वत्र नादब्रह्म का यशोगान गाया जा रहा है। मेघों की गर्जन सुनकर मयूर नाचने लगते हैं; बीन की सुरीली ध्वनि सुनकर विषधर मोहने लगते हैं, वीणा की मधुर ध्वनि सुनकर हिरण झूमने लगते हैं। यह नाद की ही तो विलक्षणता है। जीवन और जगत् के न जाने कितने नादात्मक व्यापारों से हम प्रतिदिन आकर्षित हुआ करते हैं। भारतीय संस्कृति में नाद-महिमा का अनुसन्धान करें तो शिव की डमरू, सरस्वती की वीणा, कृष्ण की बाँसुरी आदि की तो

सर्वत्र चर्चा है । ये निर्दिष्ट प्रसंग निरर्थक एवं निराधार नहीं हैं। भारतीय जीवन में, संगीतात्मक नाद ने ईश्वरीय वरदान के रूप में प्रवेश पाया है। अनाहत नाद की सम्पूर्ण व्यवस्था आध्यात्मिक है। नादब्रह्म के वरद आशीर्वाद से हम इसी जीवन में परम पद पा लेते हैं और सांसारिक विघ्नों से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द का यथेष्ट उपभोग करते हैं। उदाहरणार्थ–ब्रज-भूमि में 'झाँझ-करताल-मजीरा-ढोल-चिमटा-बाँसुरी' आदि वाद्यों के साथ ललित पदों का ब्रजभाषा में जब कृष्ण–भक्त कीर्तन करते हैं तो श्रोता भी तालियाँ बजा-बजा कर नाचते हुए अचेत तक हो जाते हैं। यही स्वर्ग–सुख है, यही मोक्ष–धाम है।[1] जड़ और चेतन को क्रमशः विवृत और चैतन्य रूप में नादब्रह्म अपने ऐश्वर्य से सौन्दर्यमय बना रहा है, हम सब उसके सच्चिदानंद रूप की उपासना कर रहे हैं।[2]

भारतीय वाङ्मय में नादानुशीलन—भारतीय वाङ्मय में नादानुशीलन के तीन प्रेरणाश्रोत हैं—(१ योगशास्त्र व तन्त्रशास्त्र; (२) व्याकरणशास्त्र व साहित्यशास्त्र; (३) न्यायशास्त्र व मीमांसाशास्त्र।[3] ओंकारनाथ ठाकुर ने इन सभी शास्त्रों के अनुसार निर्दिष्ट विषय पर सविस्तार विचार किया है । आध्यात्मिक या दार्शनिक स्तर पर नादानुशीलन करना मेरा प्रतिपाद्य विषय नहीं । मेरा प्रयोजन व्याकरणशास्त्र व तदाश्रित साहित्यशास्त्र के संदर्भ में संगीतात्मक नाद का स्वरूप निर्धारण करना है।

पतंजलि, कैयट, नागेश, भर्तृहरि आदि व्याकरणवेत्ताओं ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर स्फोट सिद्धान्त का आविष्कार किया। 'स्फोट' का अर्थ दो प्रकार से समझाया गया है—(१) 'स्फुटति अर्थोऽस्मिन्निति स्फोटः' अर्थात् जिसमें अर्थ प्रस्फुटित हो, वही स्फोट है; (२) 'स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ प्रस्फुटित हो, वही स्फोट है।[4] प्रथम व्युत्पत्ति में जिस शब्द-व्यापार का निर्देश किया गया है, वह वस्तुतः 'व्यंग्य' है, जबकि दूसरी व्युत्पत्ति में वह वस्तुतः 'व्यंजक'। व्याकरणशास्त्रियों ने शब्द दो प्रकार के माने हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। इनमें वर्णात्मक वस्तुतः 'व्यंग्य' होता है और ध्वन्यात्मक वस्तुतः 'व्यंजक'।

---

१. 'याज्ञवल्क्य स्मृति' ३/११५, पृष्ठ४६५ "वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥"

२. 'संगीतरत्नाकर भाग१' १/३/१, पृष्ठ६२ "चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना। नादब्रह्मतदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥"

३. 'प्रणव भारती: प्रथम वीणा' पृष्ठ ३–३५ तक

४. वही, पृष्ठ १६

'व्यंग्य' का ही दूसरा नाम 'स्फोट' है, तथा 'व्यंजक' का ही दूसरा नाम 'नाद' है। भर्तृहरि स्फोट और नाद में व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध का उल्लेख भी करते हैं।[१] इस प्रकार वर्णात्मक रूप में 'व्यंग्य' शब्द-तत्त्व को स्फोट और ध्वन्यात्मक रूप में 'व्यंजक' शब्द-तत्त्व को नाद कहते हैं।

स्पष्ट है कि श्रूयमाण वार्णिक ध्वनियों को नाद कहते हैं। नाद के श्रवणगोचर हुए बिना व्यंग्य-प्रतीति सम्भव नहीं। संगीताचार्यों की भाँति व्याकरणाचार्य भी नाद को व्यंजक मानते हैं। ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन ने अपने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना स्फोट सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर की है। ध्वन्यालोकलोचनकार का स्पष्ट कथन है कि श्रूयमाण वर्ण, जिन्हें 'नाद' संज्ञा से अभिहित करते हैं, वस्तुतः व्यंग्य स्फोट के व्यंजक बनकर 'ध्वनि' नाम से पुकारे जाते हैं।[२] संक्षेप में, क्या व्याकरणाचार्य, क्या साहित्याचार्य, क्या संगीताचार्य सभी एक स्वर से नाद को व्यंजक कह कर पुकारते हैं। वास्तव में, संगीतात्मक नाद वाचक न हो कर व्यंजक होता है। शब्द के व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाला नाद वस्तुतः अर्थ से, भाव से अथवा रस से किस प्रकार रहित हो सकता है? संगीतकला में हम वर्णात्मक शब्दों पर ध्यान न देकर ध्वन्यात्मक शब्दों पर ध्यान देते हैं। जब हम यह कहते हैं कि आकाश का गुण 'शब्द' है तो उसका आशय 'ध्वन्यात्मक शब्द' अर्थात् 'नाद' से है। संगीत, शब्दों के वर्णरूप पर आश्रित न होकर उनके ध्वनिरूप पर आश्रित है। नाद का गौरव शब्दों के ध्वनन मात्र से सम्बन्धित है, वर्ण मात्र से सम्बन्धित नहीं। संगीतकला में शब्द का वर्णरूप तो साधन मात्र है, साध्य तो उसका ध्वनिरूप ही है। फिर भी स्फोट या व्यंग्य तत्त्व की उपेक्षा यहाँ कदापि नहीं, क्योंकि निरर्थक ध्वनि-समुच्चय या नाद का क्या उपयोग? काव्यकला में यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वर्ण-योजना के अनुसार नियत है तो संगीतकला में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि-योजना के अनुसार ही। संगीतकला की ध्वनियाँ चाहे शाब्दिक हों और चाहे अशाब्दिक, किन्तु उनके वर्णरूप स्फोट पर ध्यान न देकर, संगीतप्रेमी ध्वनिरूप नाद पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। वाद्यज ध्वनियाँ तो विशुद्ध रूप से अवार्णिक होती हैं। मुखज ध्वनियाँ वार्णिक होते हुए भी केवल नादात्मक होती हैं, स्फोटात्मक नहीं। नाद स्वयमेव भावाभिव्यंजक होता है। यह

---

१. 'वाक्यपदीय' ब्रह्म काण्ड/श्लोक ९७, पृष्ठ १०९

२. 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ १३९ पर अभिनवगुप्त की टीका—"तथा श्रूयमाणा ये वर्णाः नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः।"

सभी जानते हैं कि संगीत में शब्द के अर्थ का बोध हुए बिना भी श्रोताओं को रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति हो जाती है, क्योंकि नाद-सौन्दर्य के अन्तर्गत वार्णिक या अवार्णिक ध्वनियाँ स्वयं सार्थक बन जाती हैं (दे० द्वितीय अध्याय)। संक्षेप में, व्याकरणवेत्ताओं ने नाद को भावाभिव्यंजक अर्थात् स्फोटाभिव्यंजक मान कर 'नाद-सौन्दर्य' की सत्ता स्वीकार कर ली है।

काव्यशास्त्र में भी, संगीतशास्त्र के नाद-सौन्दर्य की चर्चा की गई है। यह ठीक है क्योंकि नाद से वर्ण व्यंजित होते है, वर्णों से पद घटित होते हैं, पदों से वाणी और वाणी से जीवन-व्यापार व्यंजित होते हैं, अस्तु यह विश्व नादाधीन है।[१] विविध शास्त्रों में विविध प्रकार से नादानुशीलन की परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। कोकिल की कूक को, भ्रमर के गूंजन को कवि शब्दों में बाँधता है, जबकि संगीतकार ध्वनियों में। साहित्यशास्त्र में भी संगीतशास्त्र के नाद प्रकरण पर स्फुट विचार मिलते हैं, किन्तु कुछ भिन्न रूप में। यहाँ आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के विचारों को उद्धृत करते हुए संगीतात्मक नाद की रसवादी विचारधारा का विश्लेषण किया जा रहा है। संगीत को सरस मानने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। छान्दोग्योपनिषद् में वाणी को सरस माना गया, ऋचाओं को सरस माना गया, साम संगीत को सरस माना गया और उद्गीथ नामक साम संगीत को सर्वोपरि सरस।[२] नाट्यशास्त्रकार आदि परवर्ती आचार्यों ने इसी परम्परा का अनुसरण किया है, जैसा कि विवेचित कर चुके हैं। प्रयोजनवश यहाँ पुनरावृत्ति की जा रही है। यदि कलाकार संगीत-रचना को सरस बनाने के विधान से परिचित है तो रागात्मक नाद को जन्म देने वाले स्वर कभी नीरस हो ही नहीं सकते। नाट्यशास्त्रकार के विचार से मध्यम और पंचम स्वरों को हास्य और शृंगार रस में, षड्ज और ऋषभ स्वरों को वीर, रौद्र और अद्भत रस में, गान्धार और निषाद स्वरों को करुण रस में तथा धैवत स्वर को वीभत्स और भयानक रस में प्रयुक्त करना चाहिये।[३] इन स्वरों का रस से सम्बन्ध दिखलाने का प्रयोजन श्रवणगोचर होने वाले संगीतात्मक नाद को सर्वथा सौन्दर्यमण्डित करना है। यदि स्वरूपवती

---

१. 'संगीतदर्पण' १/१४ "नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः। वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमिदं जगत्॥"

२. 'छान्दोग्योपनिषद्' ३/१/२ "पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग् रस ऋचः साम रसः साम्नः उद्गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः

३. 'नाट्यशास्त्र भाग २' अध्याय १७, पृष्ठ ३८७

रमणी खरस्वनी गायिका का पद ग्रहण कर गान करती है तो वह दर्शकों को उतना भाव-विभोर नहीं कर सकती जितना कि कोकिलास्वरा रमणी। इसी भाँति मुखज या वाद्यज स्वरावली अपने अस्त-व्यस्त स्वरूप से उतना प्रभावित नहीं कर सकती, जितना कि व्यवस्थित स्वरावली। संक्षेपतः नाद सौन्दर्य से रहित संगीत, श्रोता की सुरुचि का सम्पादन नहीं कर सकता। काव्य की भाँति संगीत भी सहृदय की दृष्टि से रसास्वादन या सौन्दर्यास्वादन का उद्देश्य लेकर अग्रसर होता है। आचार्य बृहस्पति का यह कथन सत्य है कि स्थायी स्वर के आलम्बन से, उसके संवादी स्वर के उद्दीपन से, अनुवादी स्वर के अनुभावन से तथा संचारी स्वर के परिपोषण से सहृदयों की वह चित्तवृत्ति विशेष रसरूप हो जाती है जो संगीतानुभूति में अनुकूल-प्रतिकूल मनोवृत्तियों के द्वारा अतिक्रान्त न होकर स्थायी भाव से आद्यन्त अवस्थित रहती है।[1]

अतएव यह सत्य है कि नाद-सौन्दर्य की सीमा में भाव-सौन्दर्य स्वतः प्रतिष्ठित है। स्फोट सिद्धान्त की व्याख्या करते समय वर्णात्मक शब्दों एवं ध्वन्यात्मक शब्दों के व्यंजक स्वरूप का निर्देश कर ही चुके हैं। पुनः यदि शब्द वाचक और लक्षक होने की अपेक्षा व्यंजक होकर व्यंग्य रूप अर्थ की प्रतीति कराते हैं तो तत्सम्बन्धी व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया जाता है। ध्यान रहे कि 'वर्णात्मक शब्द' और 'ध्वन्यात्मक शब्द' का तात्पर्य क्रमशः 'पद' और 'नाद' से है। काव्यकला में, व्यंग्यार्थ का उद्घाटन करने वाले पद निश्चय ही व्यंजक कहे जाते हैं, उसी प्रकार संगीतकला में, व्यंग्य-प्रतीति कराने वाला नाद वस्तुतः व्यंजक कहा जाता है। काव्यकला अथवा संगीतकला के अभिव्यंजन सिद्धान्त के सूत्रधार व्याकरणकार हैं। ध्वन्यालोक में स्पष्ट उल्लेख है कि ये व्याकरणवेत्ता श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का अनुसन्धान करते हैं। इनके अनुयायी काव्यमर्मज्ञों के द्वारा वाच्य-वाचक सम्बन्ध वाले, शब्द के आत्मभूत काव्य को 'व्यंजकत्व'-समानता से देखा-देखी 'ध्वनि' कहकर संज्ञित किया गया।[2] संगीतकला और काव्यकला की जननी व्याकरण है, उदाहरणार्थ—काव्य अथवा संगीत के सन्दर्भ में क्रमशः हम यह कहा करते हैं कि

१. 'भरत का संगीत सिद्धान्त' पृष्ठ २७१

२. 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ १३८–१४२ "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा, व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुयायिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमितिव्यपदेश्योव्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।"

इस शब्द में अथवा शब्द से यह 'ध्वनि' निकल रही है। जिस प्रकार किसी काव्य-रचना के वर्णात्मक शब्दों अर्थात् पदसमुच्चय में ध्वनित होने वाले व्यंग्यार्थ को व्यंजकत्व के कारण 'ध्वनि' कहते हैं, उसी प्रकार किसी संगीत-रचना के ध्वन्यात्मक शब्दों अर्थात् नादसमुच्चय से ध्वनित होने वाले व्यंग्यार्थ को व्यंजकत्व के कारण 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि काव्यकला और संगीतकला दोनों ही अभिव्यंजन सिद्धान्त का भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वागत और सम्मान करती हैं। इस विषय को समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

दोनों में रसाभिव्यक्ति होती है, वाच्यार्थ का आग्रह नहीं होता—काव्यकला में 'ध्वनि' का तात्पर्य उस व्यंजना-व्यापार से है जिसके आश्रय से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। व्यंजना-व्यापार के माध्यम हैं-विविध व्यंजक शब्दसमूह। संगीतकला में उसी व्यंजना-व्यापार के माध्यम हैं–नादसमूह। 'ध्वनिकाव्य' की भाँति 'ध्वनि संगीत' का अस्तित्व भी मान्य है। 'ध्वनि काव्य' के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक शब्दावली में निहित वाचकत्व वस्तुतः व्यंजकत्व रूप में परिलक्षित होता है, उसी प्रकार वाचक स्वरावली में निहित वाचकत्व वस्तुतः व्यंजकत्व रूप में अवतरित होता है। जिस प्रकार 'ध्वनि काव्य' में शब्द अपने वाचक या लक्षक स्वरूप का प्रदर्शन न कर वस्तुतः व्यंजक स्वरूप का प्रकाशन करते हैं, उसी प्रकार 'ध्वनि संगीत' में स्वर अपने वाचक या लक्षक स्वरूप का निदर्शन न कर वस्तुतः व्यंजक स्वरूप का प्रकाशन करते हैं। 'स्वर' का तात्पर्य ही है वह नाद विशेष जो अनुरणनात्मक हो। इन्हीं भावाभिव्यंजक स्वरों से जो रागात्मक नाद निष्पन्न होता है, वह भी मूलतः भावाभिव्यंजक होता है। स्पष्ट है कि संगीतकला में भी वाच्यार्थ का आग्रह नहीं होता है। आनन्दवर्धन का कथन माननीय है कि कविता आदि के शब्दों की भाँति गीत आदि के शब्दों से भी रसाभिव्यक्ति होती है।[1] संक्षेप में, व्यंजना–व्यापार से आविष्कृत नाद-सौन्दर्य की सत्ता का हम तिरस्कार नहीं कर सकते।

(२) **दोनों की रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति में अभिधान शक्ति प्रवृत्त नहीं होती**—'अभिधान' का अर्थ है नाम। जहाँ कहीं भी वाचक शब्द से किसी नामधारी वस्तु का सांकेतिक बोध होता है, वहाँ वाच्यार्थ का आग्रह होता है। दूसरे शब्दों में, अभिधान शक्ति वह अभिधेय व्यापार है, जिसकी क्षमता से संकेतित (जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया–चतुर्विध)

---

१. 'ध्वन्यालोक' तृतीय उद्योत, ३३ वीं कारिका, पृष्ठ ४४६-"तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।"

अभिप्राय का अवबोध हुआ करता है।[1] उदाहरणार्थ–यदि कहें कि दो हाथ और दो पैर वाले प्राणी का अभिधान 'मानव' है, तो 'मानव' शब्द का यत्र–तत्र प्रयोग देखकर उक्त विशेषताओं वाले प्राणी का बोध होगा। अतएव शब्द की अभिधाशक्ति से ही पाठक और श्रोता सांकेतिक अर्थ समझ लेते हैं। परन्तु व्यंग्यार्थ में अभिधाशक्ति के अर्थ–बोध की परिणति नहीं होती क्योंकि वाचक शब्द में अभीष्ट अर्थ--प्रकाशन की क्षमता कहाँ ? उत्तम काव्य में अभिधान शक्ति प्रमुख न होकर अवगमन शक्ति प्रमुख होती है। 'अव विशेषण गम्यते बोध्यते इति अवगमनं प्रत्ययनं' व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका विबोधन विशेषतया सम्पन्न हो उसे अवगमन कहते हैं। अभिनवगुप्त 'अवगमन' को अनुमान का पर्याय मानते हुए अपने विचार प्रकट करते हैं कि मृग आदि प्राणी भी नाद को सुनकर प्राणों का मोह छोड़कर भय, रोष, शोक आदि के वशीभूत हो जाते हैं, अस्तु चित्तवृत्त्यात्मक नाद के कारण अवगमन वस्तुतः अनुमान ही है।[2] पाठकवृन्द 'अनुमान' शब्द के स्थान पर 'प्रत्ययन' शब्द का प्रयोग अभीष्ट समझें। अभिनवगुप्त के स्वर में स्वर मिलाते हुए हम कह सकते हैं कि नाद-सौन्दर्य की अनुभूति में अवगमन या अनुमान या प्रत्ययन या प्रतीयमान या व्यंजना शक्ति उपकारक बनती है, अभिधान शक्ति नहीं। सच है कि स्वरों के वाचकत्व व्यापार से प्रतीयमान अर्थ का यथेष्ट द्योतन नहीं हो सकता। इसीलिये 'स्वरनिष्पत्ति' प्रकरण के अन्तर्गत स्वरों के बहुविध संयोग की चर्चा की गई है। इस दशा में स्वर अपने व्यंजकत्व व्यापार से प्रतीयमान अर्थ का यथेष्ट द्योतन करने लगते हैं। काव्यकला के सन्दर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। काव्यकला में व्यंजकत्व का निर्वाह 'ध्वनिकाव्य' के अन्तर्गत और संगीत–कला में व्यंजकत्व का निर्वाह 'ध्वनिसंगीत' के अन्तर्गत किया जाता है। जिस प्रकार 'ध्वनि काव्य' भाव-सौन्दर्य का उन्मीलन करता है उसी प्रकार 'ध्वनि संगीत' नाद-सौन्दर्य का। यदि 'ध्वनिकाव्य' में व्यंजक शब्दों से 'ध्वनि' की सृष्टि होती है तो 'ध्वनि संगीत' में व्यंजक स्वरों से। दूसरे शब्दों में, एक ओर 'ध्वनि' का तात्पर्य व्यंजक शब्दों से सम्बन्धित भाव–बोध से है तो दूसरी ओर व्यंजक स्वरों से सम्बन्धित नाद-बोध से। यही नाद–बोध रागात्मक होने के कारण 'नाद–सौन्दर्य' को अवगमित करता

---

१. 'साहित्यदर्पण' २/४, पृष्ठ ४० —"तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।"
२. 'ना०शा० भाग २ पृष्ठ ३८७ "तथा च प्राण्यन्तरस्य मृगसारमेयादेरपि नाद-माकर्ण्य भयरोषशोकादि प्रतिपद्यते तदयं नादाच्चित्तवृत्त्याद्यवगमनोऽनुमानं तावत्

है । अतः नाद-सौन्दर्य प्रतीयमान होने के कारण अवगमन शक्ति से अनुभूत होता है, अभिधान शक्ति से नहीं । काव्यकला में भी, उत्तम काव्य का व्यंग्यार्थ अभिधान शक्ति के द्वार से आकर भी मुख्यतः अवगमन शक्ति के गृह में अधिष्ठित हो जाता है। संक्षेप में, सौन्दर्यानुभूति के विषय में दोनों कलायें अवगमन या व्यंजना शक्ति का समादर करती हैं।

शब्द अनन्त हैं, किन्तु स्वर सप्त हैं। शब्दों का अर्थ परम्परा से नियत रहता है किन्तु स्वरों का परम्परागत कोई अर्थ नहीं नियत है। अतः व्यावहारिक रूप में निरर्थक प्रतीत होने वाले स्वर किसी नाद-विषय का ध्वन्यात्मक अनुकरण करते हुए भावाभिव्यंजक बनकर सार्थक प्रतीत होने लगते हैं। सहृदय संगीतश्रोता मौखिक या वाद्य संगीत की स्वरावली मात्र को सुनने संगीतमण्डप में नहीं जाता, वल्कि तद्विषयक अनुरणन में छिपे हुए भावों को समझने या अनुभव करने जाता है। स्वरों से निष्पन्न होने वाला रागात्मक नाद भावाभिव्यंजक होने के कारण सरस या सुन्दर माना जाता है। रागात्मक किन्तु रसपेशल नाद को सुनकर सहृदय के सुप्त भाव जाग उठते हैं। सहृदय पहले अपने कानों से फिर अन्तःकरण से इस नाद-सौन्दर्य को सुनता, समझता और अनुभव करता है। सब मिलाकर, संगीत को सुनने में अभिधान शक्ति के उपलक्षण या निमित्त मात्र होने से अवगमन शक्ति वाच्यार्थ को अतिक्रान्त कर व्यंग्यार्थ का सरस प्रतिष्ठान करती है, अतएव नाद-सौन्दर्य की अनुभूति में स्वरों के वाचकत्व अथवा लक्षकत्व लक्षण किसी प्रकार भी परिलक्षित नहीं होते।[1] यह अवश्य है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में वाच्यार्थ आसंग या अविनाभाव से सदैव अवभासित हुआ करता है, क्योंकि व्यंग्य-बोध की भूमिका वाच्य-बोध पर अवलम्बित है। व्यंग्य-प्रतीति में वाच्य-बुद्धि दूर नहीं होती।[2] संगीतकार की भावोपेत स्वरलहरी में व्यंग्यार्थ या व्यंग्य-बोध तो निहित रहता ही है, जिससे श्रोता भाव-विभोर हो जाते हैं। संगीत-रचना की यह परिपूर्णावस्था नाद-सौन्दर्य से पृथक् नहीं, क्योंकि रसास्वादन या सौन्दर्यास्वादन की यह चरम परन्तु अभीष्ट भूमिका है। इस प्रसंग में काव्यकला के साधारणीकरण सिद्धान्त की याद आ जाती है। नाद-

---

१. 'ध्वन्यालोक' तृतीय उद्योत/कारिका ३३ वीं से, पृष्ठ ४६६ "तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते।"

२. वही, पृष्ठ ४६१ "न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्याव-भासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्।"

सौन्दर्य की अनुभूति करते समय संगीतश्रोता का विचार-प्रधान अहंवाद अपनी सत्ता खोकर नादात्मक विषय से विलक्षण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह संगीत को सुनते-सुनते विषधर की भाँति मंत्रमुग्ध होकर भूलने लगता है। अतएव यह कहना सर्वथा संगत है कि मौखिक या वाद्य संगीत की वार्णिक या अवार्णिक ध्वनियों में भी व्यंग्यार्थ के प्रकाशन की क्षमता विद्यमान होने के कारण व्यंजकमूला अवगमन शक्ति ही तत्पर होती है, वाचकमूला अभिधानशक्ति नहीं। नाट्यकला में, अशाब्दिक चेष्टाओं से अर्थ विशेष के प्रकाशन की बात प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार संगीतकला में भी अशाब्दिक ध्वनियों से व्यंग्यार्थ के प्रकाशन की बात निर्णीत हो जाती है। कविता की भाँति हम गीत आदि के शब्दों के वर्णात्मक स्वरूप पर ध्यान न देकर ध्वन्यात्मक या नादात्मक स्वरूप पर ध्यान देते हैं, जिससे रसाभिव्यक्ति या सौन्दर्याभिव्यक्ति सम्भव है।[1] नाद भावाभिव्यंजक होता है, यह प्रतिपादित हो कर चुके हैं। नाद-सौन्दर्य के सन्दर्भ में ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों के यही विचार उल्लेखनीय हैं।

नाद-सौन्दर्य और उसके लक्षण—नाद का अर्थ है-प्राणाग्नि से उत्पन्न रव। अग्नि का स्वरूप प्रज्वलनशील है। अतः 'नाद' का वास्तविक अभिप्राय है-प्राणों का प्रज्वलनशील रव। जिस प्रकार लोक में दहकती दावाग्नि से रव निकलता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में प्रज्वलनशील जठराग्नि से घोषपूर्ण रव निकलता है। अस्तु प्राणाग्नि के संयोग से उत्पन्न होने वाले घोषपूर्ण रव को नाद कहते हैं।[2] इस प्राणाग्नि को उद्दीप्त करने वाला मानव-मन है। आत्मा बुद्धि की प्रेरणा से मन को विवक्षा-हेतु प्रेरित करती है। मन प्राणाग्नि या जठराग्नि को प्रज्वलित करता है, जिससे उदरस्थ पवन विकारी हो उठता है। यही पवन हृदय में विचरण करता हुआ मुख-भाग से बाहर निकल कर गूँजने लगता है।[3] इस प्रकार संगीतात्मक नाद मानव-मन की पुकार है। संगीतकार का मन संगीतश्रोता की मनोवृत्तियों के रहस्य को समझकर ही संगीत-रचना में

---

१. वही, पृष्ठ ४५८ 'न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवागमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमनदर्शनात् ·· चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः।'

२. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १/३/६, पृष्ठ ६४ "नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः। जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥"

३. 'पाणिनीय शिक्षा' श्लोक ६, पृष्ठ ३६ "आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम् ॥"

प्रवृत्त होता है। संगीतकार अपनी संगीत-साधना में चाहे स्वान्तःसुखाय तत्पर हो और चाहे परान्तःसुखाय, किन्तु उसको उसे रागों के द्वारा रागजनक बनाना पड़ता है। काव्यादि कलाओं की अपेक्षा संगीतकला में इस रागमयी साधना की प्रचुरता है। गेयता के स्तर पर किये जाने वाले कविता-पाठ को गीत ही कहेंगे, कविता नहीं। पाठ्य संगीत के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर श्रोताओं को मुग्ध करने के लिये यदि अनुरणनमय रंजकता का सम्पादन करते हैं तो वे पाठ्योपयोगी न कहलाकर गानोपयोगी कहलायेंगे, क्योंकि उच्चारण पर आधारित उच्च, नीच और मध्यम स्थान वाले उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पाठ्यस्वरों की पाठ-युक्ति में नाद-सौन्दर्य का विलक्षण चमत्कार कहाँ ?[१] स्पष्ट है कि नाद-सौन्दर्य मूलतः भावोत्तेजक होता है, विचारोत्तेजक नहीं। यह तभी सम्भव है जबकि वाचक अपने वाच्य के साथ-साथ व्यंग्य का प्रकाशन करे। स्पष्ट भाषा में, शब्द की भाँति स्वर अपने वाचक स्वरूप से वाच्य की प्रतीति कराने के अनन्तर अपने व्यंजक स्वरूप से व्यंग्य की प्रतीति कराते हैं-यही निश्चित सम्भाव्य क्रम है।[२]

ध्यान रहे कि शब्द की भाँति स्वर अपने से ही प्रकाशित होता है, वह स्वयं प्रकाशतत्त्व है। इसीलिये इन स्वरों से हमारा अन्तःकरण प्रकाशित या विभावित हो उठता है। इन स्वरों से निष्पन्न होने वाले रागों के प्रति मानव युगों-युगों से क्यों अभिरुचि लेते रहे हैं ? कारण स्पष्ट है कि रागजनक स्वरों की नादलहरी भावमयी भूमिका का समापन करती हुई हमें आकर्षित कर लेती है। नादात्मक या नादाश्रित भाव हमारे जन्म-जन्मान्तर के सुहृद होते हैं, जिससे उनके प्रति हम सौन्दर्यानुभूति के समय उदासीन नहीं रह सकते। रागों के वेष में उन आत्मीय भावों को पहिचान कर हम आतुरतापूर्वक हार्दिक अभिनन्दन करने के लिये सजग रहते हैं। वास्तव में, नादात्मक भावों का बोध चिरनूतन ही नहीं अपितु अपने आप में अभूतपूर्व होता है, जैसे नाट्य-संगीत में एक ही व्यक्ति 'श्रोता और दर्शक' का व्यक्तित्व लेकर कानों से और आँखों से नादात्मक भावों के स्वरूप का बोध करता हुआ अलौकिक आनन्द का अनुभव

---

१. नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३८५, अभिनवभारती से– "उदात्तानुदात्तस्वरित-कम्पितरूपतया स्वराणां यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमयं तत्त्यागेनोच्चनीचमध्यम-स्थानसंस्पर्शित्वमात्रं पाठ्योपयोगीति। यदि स्वरगता रक्तिः पाठ्ये प्रधानान्ये-नावलम्ब्येत् तदा गानक्रियासौ स्यात् न पाठः।"

२. 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ ४४६–"येषामपिस्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावीक्रमः।"

करता है। उस समय वह जिन अभूतपूर्व भावों का स्मरण करता है, वे निश्चय ही उसके आत्मीय सुहृद होते हैं। सक्षेप में, भावविधुर नाद किसी भी प्रकार श्रवणमधुर एवं हृदयविमोहक नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, ऐसे संगीतात्मक नाद को हम सुन्दर या सरस नहीं मानते। जो सक्रिय रूप से सौन्दर्यानुभूति का विषय न बन सके तो उस नाद-सौन्दर्य की सत्ता निश्चय ही संदिग्ध समझनी चाहिये। श्रव्य संगीत की सार्थकता तब है जब वह, नाद और नादविषयी के बीच में जीवन-जीव्य का सम्बन्ध चरितार्थ कर सके। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी 'जीव्य' कोटि के अन्तर्गत गिने जाते हैं। ये जीव अपने सुखात्मक या दुखात्मक उद्गारों को नाद से अभिव्यक्त अथवा अनुभूत करते हुए जीवन-यापन करते हैं। अतएव संगीतात्मक नाद और संगीतश्रोता के बीच में जीवन-जीव्य का सम्बन्ध मानना उचित है।

संगीतात्मक नाद अपने प्रभाव से प्राणिसमुदाय को तन्मद करने में समर्थ है। नाद-सौन्दर्य से ये प्राणी इतने क्यों आकर्षित हो जाते हैं? आचार्य मतंग के प्रस्तुत कथन में इसका समाधान विद्यमान है। संगीतकार के हृदय से निकलने वाला नाद संगीतश्रोता के हृदय को इसलिये प्रभावित करता है कि हृदय एक-दूसरे के हृदय की भाषा को सरलता-पूर्वक समझ लेते हैं। अनाहत नाद आध्यात्मिक जगत् के ५ अन्त:प्रदेशों में विचरण या संचरण करने के उपरान्त आहत नाद के रूप में भौतिक जगत् के अन्तर्गत प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, अनाहत नाद अपने सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त और कृत्रिम—इन पाँच रूपों से क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ, शीर्ष और मुख प्रदेशों में संचरित होता हुआ आहत नाद के रूप में उच्चरित होता है।[1] इस नादोच्चारण में आत्मा बुद्धि के प्रभाव से मन को प्रवृत करती है। अत: संगीतात्मक नाद संगीतकार की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण आद्यन्त भावमय या रसमय होता है। संगीतश्रोता संगीतगत संस्कारी वासनाओं के कारण उसे तदनुरूप ग्रहण करते हैं। निष्कर्षत: कह सकते हैं कि (१) संगीतकार में भी रस की भावना विद्यमान है और वह प्रेरणा-स्रोत है; (२) संगीत-श्रोता में भी रस की भावना अनुभूयमान है; (३) संगीत-रचना में भी विषयत: या विभावत: रस की भावना प्रयुज्यमान है। इस प्रकार भारतीय संगीत ने मानव के आध्यात्मिक संस्कारों या भावों का स्वतंत्र चिंतन करने के कारण, भारतीय भूभाग में ही नहीं अपितु दूरवर्ती देशों में

१. 'बृहद्देशी' नादोत्पत्ति प्रकरण। श्लोक २३-२५, पृष्ठ ३

भी अतुल गौरव उपार्जित किया है । इसका कारण भारतीय संगीत की रसवादी विचारधारा है । संगीतकला में रसनिष्पत्ति के अनुरूप स्वरनिष्पत्ति की सारगर्भित परम्परा अद्यावधि अनुप्राणित है । स्थायी या वादी स्वर से स्थायी भाव, संवादी स्वर से विभाव, अनुवादी स्वर से अनुभाव और संचारी या विवादी स्वर से संचारी भाव परिलक्षित किये जाते हैं । आचार्य बृहस्पति ने इस प्रसंग की स्पष्ट व्याख्या की है।[1] वास्तव में संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के समान परस्पर संयोग करते हुए अपने वादी स्वर को स्थायी भाव के समान रसरूप में परिणत कर देते हैं । ये संवादी आदि स्वर क्रमशः विभाव आदि का स्वरनिष्पत्ति में निरूपण किंवा उन्मीलन करते हैं । नाट्यशास्त्रकार भी स्वरनिष्पत्ति के सन्दर्भ में रस--प्रक्रिया का अनुमोदन करते हैं । उनके अनुसार जिस जाति का आश्रयी बलवान् स्वर या वादी या स्थायी स्वर जिस रस का पोषक हो तो उसे प्रयुक्त करने से संगीत में वांछित रस अभिव्यक्त हो उठता है।[2] प्रत्येक स्वर किसी न किसी रस से सम्बन्धित होता है, जैसा कि विवेचन कर चुके हैं । अतः भारतीय संगीतकला में स्वरनिष्पत्ति की प्रक्रिया आमूलतः रसवादी है । स्वरों से, सरस या सुन्दर कहे जाने वाले रागपरक नाद की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब कि 'वादी' स्वर राजा के रूप में, 'संवादी' स्वर मंत्री के रूप में, 'अनुवादी' स्वर सेवक के रूप में और 'विवादी' स्वर शत्रु के रूप में संगीत–सम्मेलन के अन्तर्गत रसोत्सव के समय आमंत्रित होकर निर्विरोध एकत्रित हों ।[3]

स्वरनिष्पत्ति से संगीतात्मक नाद की सरसता सिद्ध हो जाती है । अतएव नाद–सौन्दर्य पूर्णतया आनन्दमय है । अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा श्रवणेन्द्रिय-सुलभ यह आनन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है । अनाहत नाद की

---

१. 'भरत का संगीत सिद्धान्त' पृष्ठ २७० "स्वर–सन्निवेश के द्वारा रस-प्रक्रिया में स्थायी भाव का आलम्बन 'अंश स्वर' होता है, जिसकी संज्ञा 'स्थायी स्वर' होती है । 'स्थायी स्वर' का 'संवादी' स्वर उद्दीपन विभाव का कार्य करता है, प्रयुज्यमान 'अनुवादी स्वर' अनुभाव का का कार्य करते हैं और 'स्थायी स्वर' उभरते रहते हैं एवं 'संचारी स्वर' संचारी भावों के प्रकाशक होते हैं ।"

२ 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २९।९, पृष्ठ ७१ "यो यदा बलवान् यस्मिन् स्वरो जातिसमाश्रयात् । तत्प्रवृत्तं रसे कार्यं गानं गेये प्रयोक्तृभिः ॥"

३. 'भरतकोश' पृष्ठ ९७७ पर

धारणा के पीछे यही रहस्य छिपा है। अनाहत नाद की आध्यात्मिक व्याख्या अत्यन्त जटिल है, जिसे समझे बिना भारतीय संगीत के सौन्दर्य-विधान को समझना शायद सम्भव नहीं। आहत नाद का वही अधिष्ठान है। हृदय में अनाहत चक्र को स्थित है जिसमें वायु और अग्नि के संयोग से आहत नाद की उत्पत्ति होती है।[1] अनाहत नाद अति सूक्ष्म और अव्यक्त होने के कारण रागपरक नहीं होता[2] रागविमुख होने पर भी वह भावविमुख कदापि नहीं होता, क्योंकि आहतनाद का वही जनक है। अनाहत नाद की आध्यात्मिक व्याख्या के फलस्वरूप हम संगीत को ईश्वरीय देन प्रतिपादित करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य से उपलब्ध होने वाले आनन्द का वर्णन भी अपरम्पार है, क्योंकि आत्म-गौरव के कारण वह अलौकिक होता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भी नादमय हैं, क्योंकि वे नादोपासना से प्रसन्न होते हैं।[3] संक्षेप में, नाद-सौन्दर्य की आध्यात्मिक समीक्षा के बहुमुखी आयाम हैं। नाद-सौन्दर्य की अनुभूति से हमें ईश्वरीय आनन्द अर्थात् लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है। निर्दिष्ट नादोत्पत्ति प्रकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नाद-सौन्दर्य को आहत और अनाहत नाम से भौतिक और आध्यात्मिक मर्यादायें निर्धारित की गईं। वास्तव में संगीतात्मक नाद आत्माभिव्यक्ति का एक साधन है। वह मानव-मन की पुकार है जिसको सुन कर हम द्रवित हो उठते हैं। अपने रंजक स्वरूप के कारण वह अलौकिक आनंद का प्रणेता है। वह जीवन और जगत् का शाश्वत सत्य है। अपने चिरनूतन सौन्दर्य के कारण वह नित्य है। वह आमूलतः सरस है। निष्कर्षतः संगीतात्मक नाद की सार्वभौम सत्ता संदिग्ध नहीं। उसकी सांस्कृतिक मर्यादायें सनातन हैं। हम इतना ही कह सकने में समर्थ हैं कि रसवादी परम्परा का अनुसरण करने के कारण नाद-सौन्दर्य के चमत्कार आश्चर्यजनक हैं। नादब्रह्म की कृपा से भारतीय संगीत का सौन्दर्य-विधान अपने आप में सर्वथा सर्वांगीण है। पुनः भारतीय संगीतकार प्रजापति की भाँति अपने संगीत-संसार को सुन्दर बनाने में सर्वथा सिद्धहस्त हैं। पद्मपुराण का यह कथन माननीय है

---

१. 'संगीतपारिजात' श्लोक ३६ पृष्ठ ११ 'हृद्यनाहतचक्रेऽस्मिन्ननिलानलयोगतः। आहतस्तत्र नाद स्यादिति शास्त्रे प्रकीर्तितम्।'

२. 'भरतकोश, पृष्ठ ३२४, कुम्भ-मत 'अनाहतोऽतिसूक्ष्मत्वादव्यक्तत्वान्नरक्तिदः

३. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १।३।२ पृष्ठ ६३ "नादोपासनया देवा ब्रह्माविष्णु महेश्वराः। भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥"

कि भारतीय संगीत शृंगारादि रसों का उत्पादक है; अलौकिक आनन्द का सम्पादक है; वैदिक जीवन का प्रतिपादक है और ईश्वरीय प्रभुता का निष्पादक है।[1] इस संगीत का भारतीय जीवन में सम्माननीय अस्तित्व है।[2]

उपसंहार में इतना और कहना शेष है कि भारतीय संगीतकला में सप्त स्वरों के क्रमशः अनुष्टुप्, गायत्री, त्रिष्टुप्, वृहती, पंक्ति, उष्णिक्, और जगती छन्द नियत हैं।[3] नाद-सौन्दर्य की लयोपेत छन्दता से आकर्षित होकर जड़-चेतन मुग्ध होते रहे हैं। हरिण, सर्प भ्रमर, मेघ, पुष्प आदि जड़-चेतन विषय नाद-सौन्दर्य के चमत्कार से सद्यः प्रभावित हो जाते हैं। बैजू बावरा, तानसेन आदि कलाकारों के विषय में कुछ आश्चर्यजनक किंबदन्तियाँ प्रचलित हैं। नाद-सौन्दर्य की अनुभूति से प्राणियों की सुषुप्त चेतना जाग्रत हो उठती है। जड़ प्रकृति भी यदि उसके वशीभूत हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। पौधों की सजीवता का परीक्षण करने के लिये पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने जगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला में भैरवी गाई थी। उन्होंने गाने के पूर्व यंत्र द्वारा पौधों की सामान्य अवस्था देखी और गाने के बाद पुनः देखने पर उन पर आई हुई नई चमक का निरीक्षण भी किया।[4] अतः हम कह सकते हैं कि पौधों में भी जीवनी शक्ति है, वे भी अन्य जीवों की भाँति नाद-सौन्दर्य की ओर आकर्षित होते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् नादात्मक, नादाधीन, नादाहत, नादातुर किंवा नादमय है। नाद-सौन्दर्य 'जाग्रत अवस्था' की भाँति चेतना रखने वाले मानव को, 'स्वप्न अवस्था' की भाँति चेतना रखने वाले मानवेतर प्राणियों को और 'सुषुप्ति अवस्था' की भाँति चेतना रखने वाले वनस्पतियों को सर्वथा प्रभावित करने वाला अप्रतिम सौन्दर्य-विधान है। भारतीय संगीतकार अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा से रक्त, मधुर, सम, स्फुट, भावमय, ललित और मनोहर विशेषताओं वाले नाद-सौन्दर्य में गायिका का विलास अन्तर्निहित कर देते हैं।[5] यही है सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय संगीतकला का सौन्दर्य-विधान।

---

१. 'पद्मपुराण द्वितीय भाग' २।४६।२६-२७, पृष्ठ १४९—'गीतं सर्वरसं प्रोक्तं गीतमानन्ददायकम्। शृङ्गाराद्या रसा सर्वे गीतेनापि प्रतिष्ठिताः। शोभामायान्ति गीतेन वेदाश्चत्वार उत्तमाः। गीतेन देवताः सर्वास्तोषमायान्ति नान्यथा।'

२. 'संगीतमकरन्द' संगीताध्याय / १/२४, पृष्ठ ३

३. 'संगीतपारिजात' श्लोक ९३, पृष्ठ २६

४. 'प्रणवभारती: प्रथम वीणा' पृष्ठ ३३

५. 'मृच्छकटिक' ३/४ 'रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च। किंवा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तैरन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये।।'

षष्ठ अध्याय
अलंकार–विधान

संगीतकला भी अन्य कलाओं की भाँति अलंकारों को प्रश्रय देती है। संगीत में अलंकारों से गीति का उसी प्रकार उत्कर्ष होता है, जिस प्रकार लोक में कटक, केयूर आदि अलंकारों से नारी का; काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों से रस का; शिल्प में रंग, आकार आदि अलंकारों (प्रसाधनों) से रूप का उत्कर्ष होता है। दूसरे शब्दो में, अलंकारों के बिना गीति का सौन्दर्य उसी प्रकार उपेक्षित रहता है, जिस प्रकार राकेश के बिना राका का; नीर के बिना निर्झरिणी का; पुष्पों के बिना लता का; आभूषणों के बिना रमणी का सौन्दर्य प्रायः उपेक्षणीय रहता है।[1] संगीतकार की प्रतिभा में अलंकारों से चार चाँद लग जाते हैं। अलंकारविरोधी कलाकार की गायनकला यथोचित अलंकरण के बिना नितान्त दीन रहती है।[2]

वर्णों और पदों के क्रमबद्ध संयोजन को अलंकार कहते हैं। संगीत-कोविदों के अनुसार 'अलंकार' का अभिप्राय है–विशिष्ट 'वर्ण-सन्दर्भ'।[3] 'वर्ण-सन्दर्भ' का आशय 'स्वर-सन्दर्भ' से है,[4] क्योंकि संगीत-रचना में अभिव्यक्त होने वाली वर्णावली आमूलतः स्वरावली से नियमित होती है। 'स्थायी आदि वर्णों से अलंकार बनते हैं'–इस कथन में दो मत नहीं। इस विषय में दो मत अवश्य हैं कि उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण वर्ण गान-मूलक हों या पाठमूलक। नाट्यशास्त्र में गानोपयोगी और पाठोपयोगी अलंकारों का पृथक्-पृथक् अनुशीलन किया गया है, जैसा कि आगे उद्धृत किया जायेगा। ओंकारनाथ ठाकुर आदि आधुनिक संगीतसमीक्षकों का मत है कि मौखिक संगीत के अन्तर्गत गेय और पाठ्य विधाओं वाले गानोपयोगी एवं पाठोपयोगी अलंकारों का अवतरण हो जाने से पृथक्-पृथक् विवेचन

---

१. 'नाट्शास्त्र भाग४' २६/४५, पृष्ठ ६२ "शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव। अविभूषितेव च स्त्री गीतिरलङ्कारहीना स्यात्॥"

२. 'भारतीय संगीत' दोहा ४२६, पृष्ठ१६३ "गायक हू सुर ताल के, इनसों बनत प्रवीन। काव्यकला गायनकला अलंकार बिनु दीन॥"

३. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १/६/३-४ "विशिष्टं वर्णसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते।"

४. 'संगीतपारिजात' श्लोक२२१, पृष्ठ५७ "क्रमेण स्वरसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते।"

करना उचित नहीं।[1] यह संगत है क्यों कि 'सस्वर पाठ' और 'सस्वर गान' मूलतः मौखिक संगीत के ही दो उच्चारण-विधान हैं। संक्षेप में, विशिष्ट वर्णसन्दर्भ किंवा स्वरसन्दर्भ को अलंकार कहते हैं। उपयुक्त स्वरावली के अनुकूल उपयुक्त वर्णावली को उपयुक्त क्रम से सजाने का नाम अलंकार है। गानक्रिया को अलंकृत करने के लिये वर्णों और पदों को सटीक बैठाना चाहिये। 'अलंकार' की स्वरचित परिभाषा इस प्रकार है – "श्रुतिस्वरयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। नादरसमलंकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते हारादिवत्॥" अर्थात् श्रुति और स्वर के वे अस्थिर धर्म 'अलंकार' कहलाते हैं जो 'श्रुति-स्वर' की अर्थात् संगीत की उसी प्रकार शोभा बढ़ाया करते हैं, जिस प्रकार हार आदि अलंकार 'शरीर' की अर्थात् शरीरधारियों की शोभा बढ़ाया करते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हार आदि अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाते हुए शरीरधारियों के व्यक्तित्व को अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार ये अलंकार श्रुति और स्वर की शोभा बढ़ाते हुए संगीत के नाद-रस अर्थात् नाद-सौन्दर्य को अलंकृत करते हैं। संगीत में इनकी स्थिति अनिवार्य नहीं हुआ करती, जिससे ये संगीत के शरीरभूत 'श्रुति-स्वर' के अस्थिर धर्म बतलाये गये हैं। श्रुति और स्वर से अभिव्यक्त होने वाले नाद का सम्बन्ध चाहे सस्वर पाठ से हो और चाहे सस्वर गान से, किन्तु अलंकारों के बिना वह श्रवणसुखद प्रतीत नहीं होता। उदाहरणार्थ—नाट्यकला में, वाचिक अभिनय के गेय अथवा पाठ्य विधान को अलंकारों से मण्डित न करने पर श्रव्य नाद की रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति नहीं हो पाती। अतः संगीतात्मक नाद के विचार से, मौखिक संगीत के गेय और पाठ्य विधान के अन्तर्गत गीतालंकारों का अपना अक्षुण्ण महत्त्व है।

नादालंकरण का उद्भव कैसे ? मानव अपने संगीत को लावण्यमय बनाने के लिये युगों-युगों से संघर्षरत है। वह अपने संगीत को उन शाश्वत मूल्यों मे सम्पन्न करना चाहता है जो आधिभौतिक हों, चिरनवीन हों, नैसर्गिक हों और सार्वजनीन हों। नैसर्गिक संगीत का अनुकरण करते हुए, वह अपने संगीत को सर्वथा समृद्धिशाली बनाना चाहता है। यही सोचकर हम संगीतकला को नैसर्गिक संगीत की प्रतिच्छाया कहते हैं। जिस प्रकार स्फटिक के अणुओं में लावण्य झलकता रहता है; जिस प्रकार रमणी के अंगों में लावण्य ललकता रहता है; जिस प्रकार प्राणियों के प्राणों में लावण्य दमकता रहता है उसी प्रकार नादात्मक वातावरण के नाद में लावण्य चमकता रहता है। प्रकृतिगत किंवा कलागत नाद नादात्मक वातावरण

---

१. 'प्रणवभारती:प्रथम वीणा' पृष्ठ २५८

में चमकता हुआ अपने चमत्कार से हमें चमत्कृत किंवा चकित कर देता है। स्पष्ट है कि नैसर्गिक संगीत किंवा मानवीय संगीत से सम्बन्धित नादालंकरण के मूल रहस्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि 'नादात्मक वातावरण' की तात्त्विक भूमिका निर्दिष्ट कर दी जाये।

'नादात्मक वातावरण' का तात्पर्य है—आकाशीय नाद और वायव्य स्पर्श के परस्पर संयोग से प्रादुर्भूत वायुमण्डल। आकाशीय नाद और वायव्य स्पर्श एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। गगन-संचारी नाद वायव्य स्पर्श के सहयोग से श्रवणगोचर होता है। महाभारत के अनुसार वायु के दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। वायु का प्रमुख गुण तो स्पर्श ही है।[1] आकाश का एकमात्र गुण 'शब्द' अर्थात् 'नाद' है।[2] वायुसम्बन्धी 'स्पर्श' गुण बाधित न होकर सदैव आकाशजनित 'नाद' गुण के साथ-साथ रहता है।[3] वायु अपने 'स्पर्श' गुण के साथ और आकाश अपने 'नाद' गुण के साथ परस्पर मिल कर वायुमण्डल को नादात्मक वातावरण में परिवर्तित कर देते हैं। वास्तव में, आकाशज नाद का अस्तित्व वायु के आधीन है, क्योंकि वायु के संचरण से ही यह विश्व शब्दायमान है। चाहे प्रकृतिगत संगीत हो और चाहे कलागत संगीत, किन्तु वायव्य स्पर्श के बिना नाद किसी भी प्रकार श्रवणगोचर नहीं हो सकता। वायुसम्बन्धी 'स्पर्श' गुण और आकाशसम्बन्धी 'नाद' गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध शाश्वत है। नाद के उत्पादक विषय चाहे जड़ हों और चाहे चेतन, किन्तु वह वायव्य स्पर्श के बिना कदापि श्रवणसंवेद्य नहीं हो सकता। श्रूयमाण नाद में 'वायुत्व' और 'आकाशत्व' दोनों का संयोग अपेक्षित है। संक्षेप में, नाद और स्पर्श के बिना हम नादात्मक वातावरण की कल्पना भी नहीं कर सकते। वायु के नादमय झोंके श्रवणगह्वर में प्रविष्ट होकर श्रावणिक द्रव को तरंगित कर देते हैं, फलस्वरूप निकटवर्ती नाड़ी-संस्थान से हमारा मन उद्बुद्ध होकर सुनने की क्रिया में तत्पर हो जाता है। अतः मानवीय संगीत की नादालंकरण समस्या नैसर्गिक संगीत की मुखापेक्षी है। नैसर्गिक नाद के अनुकृत रूप को ही हम संगीतात्मक नाद कहते हैं, जिसमें अनुकरण का उत्तरदायित्व प्रतिभा निभाती है।

---

१. 'महाभारत: शान्ति पर्व: मोक्षधर्म १२/१७७/३३, पृष्ठ १०१२ "शब्दस्पर्शौ तु विज्ञेयो द्विगुणो वायुरुच्यते। वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।

२. वही, १२।१७७।३४, पृष्ठ १०१३ "तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।"

३. वही, १२।१७७।३८, पृष्ठ १०१३ "आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह।"

संगीतात्मक नाद की पृष्ठभूमि मूलतः भौतिक है। आकाशजनित नाद के ७ भेद बतलाये गये हैं-षड्ज ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।[1] अपने व्यापक रूप में तो नाद सर्वत्र है किन्तु पटह आदि वाद्यों और मुखावयवों में इसकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती है। चैतन्य मन से की गई संगीताभिव्यक्ति विशेष क्यों न होगी ? जड़ पदार्थों से, चेतन प्राणियों से, वाद्यों से सम्बन्धित जो भी नाद श्रवणगोचर होता है, वह सब उक्त भेदों के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो हो जाता है।[2] नैसर्गिक संगीत किंवा मानवीय संगीत के अलंकार-विधान की परिक्रमा यहीं से प्रारम्भ होती है। संगीतकला को नैसर्गिक संगीत की अनुकृति या प्रतिच्छाया मानने का यही आशय है कि दोनों के अलंकरण की विधायें प्रायः समान हैं। नैसर्गिक संगीत के अलंकरण का दायित्व जड़ प्रकृति स्वयं पूरा करती है। निसर्ग की जड़ प्रकृति के समान मानव की चेतन प्रकृति भी ध्वनियों को 'वायु-प्रवाह के अनुकूल' अलंकृत करती हुई रुचि-चारुता का सफल निर्वाह करती है। 'वायु-प्रवाह के अनुकूल' का तात्पर्य है कि वायुसम्बन्धी 'स्पर्श' गुण के सहारे संचरित होने वाला नाद प्रतिकूल वायु से बाधित होकर विषम अवस्था में स्थित नहीं होना चाहिये, अन्यथा श्रवणेन्द्रिय उसे ग्रहण न कर सकेगी।[3] अनुकूल नादात्मक वातावरण के कारण ध्वनियाँ स्वयं सर्वत्र गतिशील हो जाती हैं। यदि नादात्मक वातावरण प्रशान्त रहे तो संचरित होने वाला नाद वायु के स्पर्शात्मक प्रभाव से नादात्मक विषय का स्पष्ट श्रावणिक बोध करायेगा, जिससे अभिव्यक्त विषय की बहुविध अवस्थायें अनुभूत हो सकेंगी। निसर्ग की जड़ प्रकृति बाहरी वायु के स्पर्शात्मक प्रभाव से जिस प्रकार भौतिक जगत् को नादातुर कर देती है, उसी प्रकार प्राणियों की चेतन प्रकृति भीतरी वायु के स्पर्शात्मक प्रभाव से आध्यात्मिक जगत् को नादातुर कर देती है। वायु के 'स्पर्श' गुण के अनेक लक्षण हैं, जिससे श्रव्य नाद की बहुविध अनुभूति होती है। उदाहरणार्थ-वायु-प्रवाह के अनुसार पीपल के पत्ते कभी 'खड़-खड़' और कभी 'मर-मर' प्रकार की ध्वनि करते हैं; समुद्र की लहरें कभी 'हहर-हहर' और कभी 'छलल-छलल' प्रकार की ध्वनि करती हैं; कुत्ते

१+२. वही, १२।१७७।३६-३७, पृष्ठ १०१३ "षड्ज ऋषभ-एवं सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशलक्षणः। ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु॥"

३. वही, १२/१७७/३८, पृष्ठ १०१३-१४ "आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह। अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमागतैः॥"

कभी 'भौं-भौं' और कभी 'भू ँ३-भू ँ३' प्रकार की ध्वनि करते हैं; मनुष्य भी अवस्थानुसार प्राण-वायु में यथावश्यक संकोच–विस्तार करते हुए नाना प्रकार की ध्वनियों को प्रकट करते हैं। रेलगाड़ी की 'छक–छक' ध्वनि, घड़ी की 'टिक-टिक' ध्वनि, सैनिक परेड की 'पट-पट' ध्वनि इत्यादि जिस प्रकार अपने संयत ध्वनन से श्रव्य नाद को अलंकृत करती हैं, उसी प्रकार श्रुत्यात्मक या स्वरात्मक ध्वनियाँ अपने निश्चित निनाद से श्रव्य नाद को अलंकृत करती हैं। सच है कि संगीतात्मक नाद को अलंकृत करने की मूल प्रेरणा हमें नादात्मक वातावरण में घटने वाले उन नादात्मक व्यापारों से मिली है जो जड़ प्रकृति या चेतन प्रकृति से नियमित होते हैं। अन्तर इतना ही है कि नैसर्गिक नाद स्वतः उद्‌भिन्न होने के कारण स्वाभाविक होता है जबकि संगीतात्मक नाद मुख से या वाद्य से प्रयासतः उद्‌भिन्न होने के कारण कृत्रिम होता है। इतना होते हुए भी नैसर्गिक नाद एवं संगीतात्मक नाद के मूलाधार एक ही हैं। प्रकृतिगत संगीत की भाँति कलागत संगीत की ध्वनियाँ वायव्य स्पर्श गुण की विविध विशिष्टताओं के अनुकूल नाद-सौन्दर्य को तभी अलंकृत कर सकती हैं जब वे विधिवत् संयोजित हों।

जब हम कहते हैं कि नाद का श्रावणिक बोध स्पष्ट, मधुर, सुखद, विशद, स्निग्ध, श्लक्ष्ण आदि विशेषणों से सम्पन्न है तो इसका यही तात्पर्य है कि श्रव्य नाद वायु सम्बन्धी 'स्पर्श' गुण की उन–उन विशेषताओं से युक्त है। "आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह" कथन का यही अभिप्राय है। महाभारतकार ने वायुसम्बन्धी 'स्पर्श' गुण के १२ विशिष्टता-बोधक लक्षण गिनाये हैं—कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु, दारुण, उष्ण, शीत, सुख, दुख, स्निग्ध और विशद।[१] वायव्य स्पर्श, नाद से रहित नहीं होता, अतः ये लक्षण उपचारतः नाद के लक्षण भी कहे जाया करते हैं। 'वायुत्व' की अपेक्षा रखने वाला आकाशज नाद, जड़ या चेतन प्रकृति से सम्बन्धित ध्वनियों को उक्त लक्षणों के अनुकूल सारगर्भित बनाता है। दूसरे शब्दों में, वायव्य 'स्पर्श' गुण के ये १२ लक्षण प्रकारान्तरेण आकाशीय 'नाद' गुण के १२ लक्षण कह दिये जाया करते हैं। मानवीय संगीत को नैसर्गिक संगीत का अनुकृत स्वरूप मानते हैं, अस्तु नैसर्गिक नाद के ये लक्षण काया-छाया न्याय से संगीतात्मक नाद के भी लक्षण मान लिये जाते हैं। संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में शब्द या नाद के इसी विचार से १५ भेद गिनाये गये हैं—मृष्ट, मधुर, चेहाल, त्रिस्थानक, सुखावह, प्रचुर, कोमल,

---

१. वही, १२।१७७।३४ "कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णःपिच्छलो मृदुदारुणः। उष्णः शीतः सुखो दुखःस्निग्धो विशद एव च। एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते॥"

नाद, श्रावक, करुण, घन, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, रतियुक्त, छविमान।[1] इनमें अन्तिम तीन लक्षण तो पुनरावृत्तिमात्र हैं, क्यों कि उनका शेष लक्षणों में अन्तर्भाव हो जाता है। यदि महाभारत और संगीतरत्नाकर में निर्दिष्ट नाद-लक्षणों की तुलना करें तो महाभारत के मृदु, सुख, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, दुख आदि लक्षण क्रमशः संगीतरत्नाकर के मधुर, सुखावह, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, करुण आदि लक्षणों के समानार्थी सिद्ध होते हैं। इस व्याख्या से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संगीतकला के अन्तर्गत नादालंकरण की प्रेरणा हमें नैसर्गिक संगीत के अलंकार-विधान से मिली है।

प्रकृतिगत संगीत की भाँति कलागत संगीत में नाद-सौन्दर्य की सृष्टि के लिये, नादात्मक वातावरण के अनुकूल, ध्वनियों के अलंकार-विधान की उपयोगिता सर्वविदित है। जो संगीतकार भौतिक संगीत के तत्वज्ञ हैं, वे अपनी सांगीतिक ध्वनियों का अलंकरण प्रतिभापूर्वक कर लेते हैं। संगीताचार्यों ने विविध पशु-पक्षियों की ध्वनियों में सप्त स्वरों का जो नादानुसन्धान किया है, वह निराधार नहीं है। संगीतमकरन्दकार के अनुसार मयूर, चातक, अज, क्रौंच, कोकिल, अश्व और गज क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वर के तुल्य ध्वनियाँ बोलते हैं।[2] पाणिनीयशिक्षा में उल्लेख है कि चाष, वायस, शिखी और नकुल के बोलने में क्रमशः एक, दो, तीन और अर्ध मात्रा का समय लगता है।[3] मनीषियों द्वारा नैसर्गिक संगीत एवं मानवीय संगीत से सम्बन्धित ध्वनियों की तुलना निरर्थक नहीं है। मानवीय संगीत के अलंकार-विधान का जीवन सफल पर्यवेक्षण एवं समुचित अनुकरण पर निर्भर है। नैसर्गिक संगीत के समान मानवीय संगीत की पृष्ठभूमि नादात्मक विषयों के उन-उन व्यापारों पर अवलम्बित है,जिन्हें सप्त स्वन-खण्डों के माध्यम से अलंकृत करते हुए अभिव्यक्त करते आये हैं। एक ओर नाद को अलंकृत करने का श्रेय जड़ प्रकृति को सुलभ है तो दूसरी चेतन प्रकृति को। नैसर्गिक नाद की भाँति संगीतात्मक नाद वायु सम्बन्धी 'स्पर्श' गुण के लक्षणों से परिलक्षित होकर अलौकिक रूप में श्रवणगोचर होता है, फलस्वरूप वह बिम्बात्मक अनुभूति कराते हुए नाद-विषय की विविध अवस्थाओं को उन्मीलित करता है। मेघों के 'गड़-गड़' में, वृक्षों के 'मर-मर' में, झरनों के 'कल-कल' में, भौंरों के 'गुन-गुन' में दारुण या घन, श्लक्ष्ण, स्निग्ध, मधुर आदि प्रकार का जो नैसर्गिक

१. 'संगीतरत्नाकर भाग२'३।६८-६९'मृष्टो गुणैरेभि पञ्चदशभेदः शब्दो निगद्यते
२. 'संगीतमकरन्द' संगीताध्याय/प्रथम पाद/श्लोक १३-१४, पृष्ठ २
३. 'पाणिनीयशिक्षा' श्लोक ४६, पृष्ठ ४३

नाद श्रवणगोचर होता है, वह संगीतकला में आकर उन-उन विषयों की उक्त-उक्त अवस्थाओं को, वायव्य स्पर्श के लक्षणों के अनुरूप, श्रोताओं के समक्ष उन्मीलित कर देता है। नादात्मक विषयों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले, अवस्थाद्योतक जो वायव्य स्पर्श के विविध लक्षण होते हैं, उन्हें दिखाने के लिये कण्ठ में या वाद्य में स्वर-भेद करना पड़ता है। इसी दशा में उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण ध्वनियाँ सर्वथा अलंकृत होकर ग्लानि, हर्ष, व्याधि, विषाद, दैन्य, त्रास, रुदन, हास, भय आदि मनोवृत्तियों की द्योतक बन जाती हैं। शास्त्रीय भाषा में इस स्वर-भेद की प्रक्रिया को 'काकु' कहते हैं[1] जिसका उपयोग गेय, पाठ्य और वाद्य संगीत से सम्बन्धित वार्णिक या अवार्णिक किन्तु रंजक ध्वनियों को अलंकार-निष्ठ बनाने के लियें किया जाता है। प्रेम में 'कोमल' नाद, हास में 'सुखावह' नाद, शोक में 'करुण' नाद, क्रोध में 'दारुण' नाद, उत्साह में 'स्निग्ध' नाद इत्यादि प्रकार से रंजक या रागात्मक ध्वनियों को प्रतिभापूर्वक अलंकारमय बनाना चाहिये। यही बात मेघ-गर्जन, पक्षी-कलरव आदि प्राकृतिक व्यापारों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। संक्षेपतः संगीतकला को गीतालंकारों या पाठालंकारों से मण्डित करने की मूल प्रेरणा हमें नैसर्गिक संगीत से मिली है।

पाठ्य संगीत में वर्ण और अलंकार—नाट्यकला में, वाचिक अभिनय के अन्तर्गत सम्बादों के सस्वर पाठ-विधान को हम 'पाठ्य संगीत' नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार किसी काव्यगत शब्दों के पीछे उनका अर्थ भी निहित रहता है, उसी प्रकार संगीतगत स्वरों के पीछे उनका अभिप्राय, प्रयोजन या अर्थ भी निहित रहता है। गायनकला में षड्ज आदि स्वर यदि राग-लक्ष्य को अधिगत नहीं कर पाते तो उन्हें पाठ्य स्वर कहना अधिक संगत है। नाट्यकला से सम्बन्धित सम्बादों की भाषा पाठ्य स्वरों की उच्चारण-व्यवस्था का अनुगमन करती है। सम्वादों की उदात्त आदि स्वरों से अनुगत शब्दावली पाठ्य होती है, गेय नहीं। दूसरे शब्दों में पाठ्य संगीत के अन्तर्गत गेयता अर्धविकसित रहती है। यह अवश्य है कि पाठक्रिया रागप्रधान होकर गानक्रिया में परिणत हो सकती है। रंजक या रागात्मक उच्चारण-विधान को हम 'गान' ही कहते हैं, पाठ नहीं। स्वरों की अनुरणनमय रंजकता को त्याग देने से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित रूप के द्वारा उच्च, नीच, मध्यम स्थानों का स्पर्श मात्र करने वाला उच्चारण-विधान पाठ्योपयोगी होता है। रंजकता के न्यूनाधिक निर्वाह

---

१. 'प्रणवभारती' पृष्ठ २६०

से ही स्वरों के पाठ्य और गेय दो भेद हो जाते हैं।[1] उदात्त आदि स्वरों में रंजकता की स्थिति गौण होती है जबकि षड्ज आदि स्वरों में प्रमुख। रंजकता के परिमाण में न्यूनाधिक परिवर्तन होने से पाठ्य संगीत और गेय संगीत में एक-दूसरे की ओर यथावसर संक्रमण हो जाता है। हम गीत को किसी समय गाकर आनन्द लेते हैं और किसी समय पढ़कर। नाट्य-प्रदर्शन में ऐसे अवसर प्रायः आया करते हैं जबकि अभिनेता एक ही गीत विशेष को कभी हर्षपूर्ण वातावरण में गाते हैं और प्रतिकूल वातावरण में कभी उसका पाठ मात्र करते हैं। निष्कर्षतः पाठ्योपयोगी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों का गानोपयोगी षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा कि महर्षि पाणिनि भी स्वीकार करते है।[2]

पाठ्योपयोगी स्वर (वर्ण)—'पाठ्य स्वर' की परिधि में केवल वे ध्वनियाँ आती हैं जो पाठाश्रित होने के कारण 'वर्णात्मक' होती हैं जबकि गेय स्वर की परिधि में आने वाली ध्वनियाँ गानाश्रित होने के कारण 'ध्वयात्मक' होती हैं। यद्यपि कविता की भाँति गीत भी वर्ण-योजना पर निर्भर करता है, तथापि कविता-पाठ में उदात्त आदि स्वरों से प्रतिष्ठित शब्द-गौरव की ओर आकर्षित होते हैं जब कि गीत-गान में षड्ज आदि स्वरों से प्रतिष्ठित नाद-गौरव की ओर आकर्षित होते हैं। अतः आचार्य-गण 'पाठ्य स्वर' के स्थान पर 'पाठ्यवर्ण' अनुच्छेद का प्रयोग करना उचित समझते हैं, उदाहरणार्थ-आचार्य अभिनवगुप्त उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित स्वरों से सम्बन्धित क्रमशः उच्चता, नीचता, मध्यमता और उच्चता नीचता—इन उच्चारण--विधाओं को चार 'स्वरधर्म' ही कहते हैं, 'वर्णधर्म' नहीं।[3] विषय--स्पष्टता के लिये परम्परा का पालन करते हुए मैं भी 'पाठ्य स्वर' के स्थान पर 'पाठ्य वर्ण' अनुच्छेद का प्रयोग कर रहा हूँ। पाठ्य संगीत में अलंकार-विधान का तात्पर्य है कि उदात्त आदि पाठ्य वर्णों किंवा पाठ्य स्वरों को उच्च आदि उच्चारण--व्यवस्था

---

१. 'नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३८५ पर अभिनवभारती से 'उदात्तानुदात्तस्वरित-कम्पितरूपतया स्वराणां यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमयं तत्यागेनोच्चनीचमध्यम-स्थानस्पर्शित्वमात्रं पाठ्योपयोगीति दर्शितम्। यदि हि स्वरगता रक्तिः पाठ्ये प्राधान्येनावलम्ब्येत् तदा गानक्रियासौ स्यात्, न पाठः।"

२. 'पाणिनीयशिक्षा' श्लोक १२, पृष्ठ ४० "उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥"

३. 'नाट्यशास्त्र २' पृष्ठ ३९० 'उच्चतानीचतामध्यमता उच्चनीचोभय ··स्वरधर्माः।'

के अनुरूप उचित स्थानों से उद्‌भिन्न करना । अभिनवगुप्त के अनुसार, पाठ्य प्रणाली पर आधारित काव्य में रंजकता के अंश को त्याग देने से पाठ्य स्वर वस्तुत: पाठ्य वर्ण ही कहलाते हैं । रंजकता के प्रवेश से पाठ्य स्वर, अपनी पाठ्य प्रणाली को छोड़ कर गान प्रणाली से सम्बन्धित हो जाते हैं, फलस्वरूप उदात्त आदि अर्थात् कवर्गादि पाठ्य वर्ण नाद–गौरव से सम्पन्न हो जाते हैं, शब्दगौरव से नहीं।[1] यह सदैव ध्यान रखें कि पाठ्य वर्णों किंवा पाठ्य स्वरों में भी रंजकता की कुछ न कुछ मात्रा अवस्थित रहती है, जैसा कि पहले कह चुके हैं । गेय स्वरों की भाँति पाठ्य स्वर भी विभिन्न रसों से सम्बन्धित माने गये हैं। जब पाठ्य संगीत को आप नीरस नहीं मानते तो उसे रंजकता से परे भी नहीं मान सकते । नाट्यशास्त्रकार के अनुसार पाठ्य संगीत में, स्वरित और उदात्त वर्णों अर्थात् स्वरों को हास्य और शृंगार रसों से; उदात्त और कम्पित स्वरों को वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों से; अनुदात्त, स्वरित और कम्पित स्वरों को करुण, वीभत्स और भयानक रसों से सम्बद्ध करना चाहिये ।[2]

नाटकीय पाठ और पाठ्यालंकार–नाटकीय पाठ दो प्रकार के होते हैं–गद्यात्मक और पद्यात्मक । गद्यात्मक पाठ केवल पढ़े जाते हैं, जबकि पद्यात्मक पाठ पढ़े भी जा सकते हैं और गाये भी जा सकते हैं। अतएव गद्यात्मक पाठ केवल उदात्त आदि स्वरों से नियमित होते हैं जबकि पद्यात्मक पाठ एक ओर उदात्त आदि पाठ्य स्वरों से भी नियमित हो सकते हैं और दूसरी ओर षड्ज आदि गेय स्वरों से भी। पाठ्य संगीत का आशय इन्हीं पद्यात्मक पाठों के सस्वर उच्चारण–विधान से है। पाठ्य संगीत से सम्बन्धित पाठ्यालंकारों का उपयोग प्राय: वाचिक अभिनय के पद्यात्मक पाठों में ही किया जाता है। पाठ्यालंकार का तात्पर्य है पाठ्योपयोगी वार्णिक ध्वनियों की रूप-सज्जा। गद्यात्मक पाठों में रंजकता का नाम मात्र निर्वाह होता है, अत: पाठ्यालंकार गद्यात्मक पाठों के लिये इतने उपयोगी नहीं, जितने कि रंजकता के मुखापेक्षी पद्यात्मक पाठों के लिये। इसका कारण यह है कि गद्यात्मक पाठ मात्र साहित्यिक होते हैं, संगीतात्मक नहीं। संक्षेप में, गद्यात्मक पाठ, जैसे छायावादी छन्दोबद्ध कविता के पाठ के लिये पाठ्यालंकार

---

१. वही, पृष्ठ ३९० "पाठ्ययोगे काव्ये स्वरस्य रक्तिभागमपहाय वर्णा एव वक्तव्या: । रक्तभागाभिनिवेशे तु गानयोगो न पाठ्ययोग: स्यादित्यवादिषु:। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां रक्तिभागेऽनुदात्तादिवर्णभाग: कादिवर्णभाग: ।"

२. वही पृष्ठ ३९०-३९१ "तत्र हास्यशृङ्गारयो: स्वरितोदात्तैर्वर्णै: पाठ्यमुपपाद्यं, वीररौद्राद्‌भुतेषूदात्तकम्पितै: करुणवीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितैरिति ।"

अनिवार्य हैं जब यही पद्यात्मक पाठ पाठ्य स्वरों से नियंत्रित न होकर गेय स्वरों से नियंत्रित होने लगें तो उन्हें 'पद्यात्मक पाठ' न कह कर 'पद्यात्मक गान' कहते हुए पाठ्यालंकारों की अपेक्षा गीतालंकारों से अधिक मण्डित करेंगे। सच पूछा जाये तो पाठ्य संगीत में पाठ्यालंकारों का विशेष महत्त्व है गीतालंकारों का सामान्य, इसी प्रकार गेय संगीत में गीतालंकारों का विशेष महत्त्व है, पाठ्यालंकारों का साधारण। पाठ्य संगीत और गेय संगीत से सम्बन्धित पाठ्यालंकारों और गीतालंकारों का एक-दूसरे की ओर संक्रमण होता रहता है। हम पं० ओंकारनाथ ठाकुर के मत से सहमत हैं कि "इन अलंकारों और अंगों का पाठ्य में जो उपयोग होता है, वैसा ही संगीत में भी होना चाहिये।"[1] गद्यात्मक पाठ निबंधात्मक होने के कारण अर्थ-गौरव के अनुकूल पाठ्यालंकारों से मण्डित होते हुए केवल पाठ्य स्वरों से नियमित होते हैं जबकि पद्यात्मक पाठ प्रबन्धात्मक होने के कारण अर्थ-गौरव के साथ-साथ नाद-गौरव के अनुकूल, पाठ्यालंकारों के साथ-साथ गीतालंकारों से मण्डित होते हुए पाठ्य स्वरो और गेय स्वरों से अधिक-न्यून रूप में नियमित होते हैं। ध्यान रहे कि कण्ठ में स्वर-भेद किये बिना पाठ्यसंगीत के अन्तर्गत ध्वनियाँ यह स्पष्टीकरण नहीं कर सकतीं कि उनका सम्बन्ध पाठ्य स्वरों से अधिक है या कम, अथवा गेय स्वरों से अनुगत हैं या नहीं इत्यादि।

नाट्यशास्त्र में ७ पाठ्यालंकारों के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) **उच्च अलंकार**—शिर स्थान से तार स्वर में उद्गत होने वाले वर्णक्रमों के विन्यास को 'उच्च' अलंकार कहते हैं। दूरवर्ती आह्वान, विस्मय, परत्रास, संकट आदि अवस्थाओं में इस अलंकार का प्रयोग होता है।[2]

(२) **दीप्त अलंकार**—यह भी शिरस्थानी होता है। इससे सम्बन्धित वर्णों की उच्चारण क्रिया 'तारतर' रूप अर्थात् उच्चतर रूप में सम्पन्न होती है। इसका उपयोग आक्षेप, कलह, विवाद, आमर्ष आदि मनोदशाओं में किया जाता है।[3]

(३) **मन्द्र अलंकार**—यह अलंकार हृदयस्थानी है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य आदि मनोव्यापारों को प्रकट करने में इसका उपयोग होता है।[4]

---

१. 'प्रणवभारती : प्रथम वीणा' पृष्ठ २६२।

२. 'नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३६२ "उच्चो नाम शिरःस्थानगतस्तारस्वरः, स च दूरस्थाभाषणविस्मयोत्तरोत्तरसंजल्पदूराह्वानत्रासनावाधाद्येषु।"

३. वही, पृष्ठ ३६२-३६३ "दीप्तो नाम शिरःस्थानगतस्तारतरः, स चाक्षेपकलह-विवादामर्षक्रुष्टाधर्षणक्रोधशौर्यदर्पतीक्ष्णरुक्षाभिधाननिर्भर्त्सनाक्रन्दितादिषु।"

४. वही, पृष्ठ ३६३ "मन्द्रो नाम उरःस्थानगतोनिर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यदैन्यव्याधि-क्रीड़ागाढ़शास्त्रक्षतमूर्च्छामदगुह्यार्थवचनादिषु।"

अनिवार्य हैं जब यही पद्यात्मक पाठ पाठ्य स्वरों से नियंत्रित न होकर गेय स्वरों से नियंत्रित होने लगें तो उन्हें 'पद्यात्मक पाठ' न कह कर 'पद्यात्मक गान' कहते हुए पाठ्यालंकारों की अपेक्षा गीतालंकारों से अधिक मण्डित करेंगे। सच पूछा जाये तो पाठ्य संगीत में पाठ्यालंकारों का विशेष महत्त्व है गीतालंकारों का सामान्य, इसी प्रकार गेय संगीत में गीतालंकारों का विशेष महत्त्व है. पाठ्यालंकारों का साधारण। पाठ्य संगीत और गेय संगीत से सम्बन्धित पाठ्यालंकारों और गीतालंकारों का एक-दूसरे की ओर संक्रमण होता रहता है। हम पं० ओंकारनाथ ठाकुर के मत से सहमत हैं कि "इन अलंकारों और अंगों का पाठ्य में जो उपयोग होता है, वैसा ही संगीत में भी होना चाहिये।"[१] गद्यात्मक पाठ निबंधात्मक होने के कारण अर्थ-गौरव के अनुकूल पाठ्यालंकारों से मण्डित होते हुए केवल पाठ्य स्वरों से नियमित होते हैं जबकि पद्यात्मक पाठ प्रबन्धात्मक होने के कारण अर्थ-गौरव के साथ-साथ नाद-गौरव के अनुकूल, पाठ्यालंकारों के साथ-साथ गीतालंकारों से मण्डित होते हुए पाठ्य स्वरो और गेय स्वरों से अधिक-न्यून रूप में नियमित होते हैं। ध्यान रहे कि कण्ठ में स्वर-भेद किये बिना पाठ्यसंगीत के अन्तर्गत ध्वनियाँ यह स्पष्टीकरण नहीं कर सकतीं कि उनका सम्बन्ध पाठ्य स्वरों से अधिक है या कम, अथवा गेय स्वरों से अनुगत हैं या नहीं इत्यादि।

नाट्यशास्त्र में ७ पाठ्यालंकारों के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) **उच्च अलंकार**—शिर स्थान से तार स्वर में उद्गत होने वाले वर्णक्रमों के विन्यास को 'उच्च' अलंकार कहते हैं। दूरवर्ती आह्वान, विस्मय, परत्रास, संकट आदि अवस्थाओं में इस अलंकार का प्रयोग होता है।[२]

(२) **दीप्त अलंकार**—यह भी शिरस्थानी होता है। इससे सम्बन्धित वर्णों की उच्चारण क्रिया 'तारतर' रूप अर्थात् उच्चतर रूप में सम्पन्न होती है। इसका उपयोग आक्षेप, कलह, विवाद, आमर्ष आदि मनोदशाओं में किया जाता है।[३]

(३) **मन्द्र अलंकार**—यह अलंकार हृदयस्थानी है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य आदि मनोव्यापारों को प्रकट करने में इसका उपयोग होता है।[४]

---

१. 'प्रणवभारती : प्रथम वीणा' पृष्ठ २६२।

२. 'नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३६२ "उच्चो नाम शिरःस्थानगतस्तारस्वरः, स च दूरस्थाभाषणविस्मयोत्तरोत्तरसंजल्पदूराह्वानत्रासनावाधाद्येषु।"

३. वही, पृष्ठ ३६२-३६३ "दीप्तो नाम शिरःस्थानगतस्तारतरः, स चाक्षेपकलह-विवादामर्षकुष्टाधर्षणक्रोधशौर्यदर्पतीक्ष्णरुक्षाभिधाननिभर्त्सनाक्रन्दितादिषु।"

४. वही, पृष्ठ ३६३ "मन्द्रो नाम उरःस्थानगतोनिर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यदैन्यव्याधि-क्रीड़ागाढ़शास्त्रक्षतमूर्च्छामदगुह्यार्थवचनादिषु।"

(४) नीच अलंकार—यह भी उरस्थान से सम्बन्धित है। यह मन्द्रतर रूप में प्रकट होता है, जिसका उपयोग मन्द्र अलंकार में निर्दिष्ट अवस्थाओं से मिलती-जुलती अवस्थाओं को प्रकाशित करने में किया जाता है।[१]

(५) द्रुत अलंकार—यह अलंकार कण्ठस्थानी है। इसका उपयोग भय, शीत, ज्वर आदि अवस्थाओं को व्यक्त करने में किया जाता है।[२]

(६) विलम्बित अलंकार—यह भी कण्ठस्थानी है और इसका उपयोग शृंगार, करुण आदि चित्तवृत्तियों को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाता है।[३]

गेय संगीत में वर्ण और अलंकार—गेय संगीत में, गेय स्वरों से नियमित होने वाली वार्णिक ध्वनियाँ ४ प्रकार की होती हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी। इन वार्णिक ध्वनियों को प्रचलित अर्थ में 'वर्ण' कहते हैं और गीतालंकार इन्हीं वर्णों के आश्रित हैं।[४] 'वर्ण' शब्द का तात्पर्य गानक्रिया से है। सस्वर गानक्रिया वर्णों के स्थायी आदि भेदों के अनुकूल ४ चरणों में अर्थात् पदों में पूर्ण होती है। पदों की स्थिति के अनुरूप वर्ण-योजना से अलंकारों की सृष्टि सम्भव है। वायुपुराणकार के अनुसार, पदों को सुशोभित करने की अपेक्षा से, वर्ण अपने-अपने उच्चारण-स्थानों को ग्रहण करते हैं। सार्थक वाक्यों तथा सार्थक पदों से अलंकार पूर्ण होते हैं।[५] इन वर्णों की स्वर-लिपि इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है[६]—(अ) **स्थायी वर्ण**—सा सा सा री री री, (ब) **आरोही वर्ण**—स रि ग म प ध नि, (स) **अवरोही वर्ण**—नि ध प म ग रि स, (द) **संचारी वर्ण**—उक्त स्वर-लिपियों का सम्मिश्रण।

इन वर्णों का प्रयोजन है—विविध अलंकारों को जन्म देना। इन वर्णों से संगीतात्मक नाद अलंकृत होता है। स्वरों के आरोह, अवरोह, स्थायी एवं उलट-फेर-इन क्रमों से गानक्रिया में अवतरित होने वाले वर्ण क्रमशः आरोही, अवरोही, स्थायी एवं संचारी कहलाते हैं।[७] वास्तव में,

---

१. वही, पृष्ठ ३६३

२. वही, 'द्रुतो नाम कण्ठगतः त्वरितः लल्लनमन्मनभयशीतज्वरत्रास–वेदनादिषु।'

३. वही, पृष्ठ ३६३–३६४ "विलम्बितो नाम कण्ठस्थानगतस्तनुमन्द्रः, स च शृंगारकरुणवितर्कित··· निपीडनादिषु।"

४. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २६/१४, पृष्ठ ७६– "आरोही· वर्णाश्चत्वार एवैते ह्यलङ्कारास्तदाश्रयाः ॥"

५. 'वायुपुराण खण्ड २' ५०/२–३, पृष्ठ १२८

६. 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ १५१ कल्लिनाथ की टीका से।

७. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २६।१५-१६, पृष्ठ ८०

ये वर्ण गीतालंकारों के जनक हैं और संगीतात्मक नाद के सौन्दर्यविधायक। विशिष्ट स्वरों के रागवर्द्धक सन्दर्भ या संयोग को 'अलंकार' कहते हैं, यदि वह संयोग वर्णों के विचित्र प्रयोग से समन्वित हो।[1] स्वरों की आरोह-अवरोह प्रणाली इन्हीं वर्णों पर निर्भर करती है। गीतालंकार वर्ण आदि विविध घटकों के सहयोग से सम्पन्न होते हुए रागवर्द्धक संगीत-रचना को मण्डित करते हैं। अतः गीतालंकार संगीत के शरीर को विभूषित करने वाले उपादान कहे जा सकते हैं।[2] इन गीतालंकारों की संख्या के विषय में सभी एकमत नहीं। नाट्यशास्त्र[3] में ३९, संगीतरत्नाकर[4] में ६३, संगीतपारिजात[5] में ६८, वायुपुराण[6] में ३०० अलंकार गिनाये गये हैं। ये आचार्यगण अलंकारों की अनन्त संख्या का भी निर्देश करते हैं।[7] इन सब भेदोपभेदों का विवेचन हमारी शोध-सीमा से परे है।

सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से, संगीतकला में संगीतालंकार नितान्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। सच तो यह है कि पाठ्यालंकार भी उतने ही उपयोगी हैं। किन्तु संगीतकला में गीतालंकारों की प्रधानता रहती है, पाठ्यालंकारों की नहीं। अतः ये गीतालंकार मूर्च्छना, जाति, वर्ण आदि का आश्रय लेकर शुद्ध या विकृत स्वरों के द्वारा राग को अर्थात् रागात्मक नाद को अलंकृत करते हैं।[8] 'अलं करोति' का अर्थ ही है 'जो सुशोभित करता है।' अलंकार संगीतकला के उस मानदण्ड को कहते हैं जो रागात्मक नाद को मर्यादित करता है। ये गीतालंकार वस्तुतः वर्ण-योजना से संचालित होते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार[9], अलंकारों के जनक या विधायक वर्णों का अभिप्राय है—शरीरज या शारीर स्वरों-से उद्भूत, तीन उच्चारण स्थानों से उच्चार्यमाण, आरोही आदि चार

---

१. 'भरतकोश' पृष्ठ ३३ "विशिष्टानां स्वराणां यः सन्दर्भो रक्तिवर्धनः। वर्णश्चित्रप्रयोगस्तमलङ्कारं प्रचक्षते ॥"
२. 'The story of Indian music' Page 147
३. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' २९।२०–२५, पृष्ठ ८२–८४
४. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १।६।६३, पृष्ठ १६८
५. 'संगीतपारिजात' श्लोक २६४, पृष्ठ ८२
६. 'वायुपुराण खण्ड २' ५०।१, पृष्ठ १२८
७. 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ १६८, श्लोक १।६।६४
८. 'भरतकोश, पृष्ठ ३३, संगीताचार्य लक्ष्मीनारायण का मत–"अलं करोति यो रागं मूर्च्छनाजातिवर्णकैः। स्वरैः शुद्धैश्च विकृतैः षाडवौडवभूषितैः ॥"
९. नाट्यशास्त्र भाग ४' २९/१७, पृष्ठ ८० "शारीरस्वरसम्भूतास्त्रिस्थानगुणगोचराः चत्वारो लक्षणोपेता वर्णास्तत्र प्रकीर्तिताः ॥"

लक्षणों से सम्पन्न वार्णिक ध्वनियाँ। गीतालंकारों के संस्थान, प्रमाण, विकार तथा लक्षण—ये चार प्रयोजन हैं।[1] दूसरे शब्दों में, अलंकारों के आश्रयभूत सभी उपादान (वर्ण आदि) अलंकारों के प्रयोजनचतुष्टय से प्रयोजनपूर्ण बनते हैं। संस्थान का तात्पर्य है कि उच्चारण-स्थानों में उनको सम्यक् प्रतिष्ठित किया जाये। यदि विविध स्थानों में गीतालंकारों का उद्भव हो तो श्रूयमाण नाद सर्वथा अलंकृत होता है। राग-विधान के समय, अलंकारों को उचित प्रमाण अथवा अनुपात में प्रयुक्त करना चाहिये। अलंकारों से अधिक मण्डित करने पर स्वाभाविकता का तिरोभाव हो जाता है। अति कृत्रिमता के कारण नाद-सौन्दर्य विकृत हो जाता है। यदि किसी सुन्दरी के अंग-प्रत्यंग में अलंकार ही अलंकार सजाये जायें तो वे केवल उसे ही बोझिल प्रतीत नहीं होंगे अपितु सौन्दर्योपभोक्ता को भी बोझिल सिद्ध होंगे। अलंकारों के उचित सन्निवेश से जिस प्रकार रमणी सुन्दर लगने लगती है, उसी प्रकार अलंकारों के उचित सन्निवेश से रागिनी भी सुन्दर लगने लगती है।[2] यह ध्यान रखना चाहिये कि रागिनी कहीं अलंकारों से अतिक्रान्ता न होने पाये। अलंकारों के यथास्थान और यथाप्रमाण में न होने से सुन्दरता, कुरूपता में परिणत हो जाती है। ठीक यही बात गीतालंकारों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। वायुपुराणकार ने उचित ही कहा है कि पैर में कुण्डल और कण्ठ में रशना धारण करने वाले पात्र की भाँति गीतालंकारों को उचित स्थान में और उचित प्रमाण में न धारण करने वाले राग हास्यास्पद बनते हैं। राग-विधान में, संस्थान, प्रमाण, विकार और लक्षण के अनुरूप गीतालंकारों के सन्निवेश से संगीत-रचना प्रभावोत्पादक बनती है। संक्षेप में अलंकारों के प्रयोग से नाद-सौन्दर्य की हानि नहीं होनी चाहिये। अलंकार-विधान में नाद-गौरव के साथ-साथ अर्थ-गौरव का भी निर्वाह करना चाहिये। अलंकार-विधान ऐसा होना चाहिये कि स्वरबद्ध वर्ण-योजना या पद-योजना के द्वारा रागों की सरस अभिव्यक्ति हो सके।[3] विविध वर्णों वाले अलंकारों से अलंकृत, यह स्वर-कम्पनमयी गमकप्रक्रिया किस श्रोता के चित्त को सुखद प्रतीत नहीं होती?[4] यही है भारतीय संगीतकला के अलंकार-विधान की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा।

---

१. 'वायुपुराण खण्ड २' ५०/२२, पृष्ठ १३१ "संस्थानञ्च प्रमाणं च विकारो लक्षणन्तथा चतुर्विधमिदं ज्ञेयमलङ्कारप्रयोजनम्।"

४. 'भारतीय संगीत' दोहा ३३०, पृष्ठ १४२ "अलंकार युत सुन्दरी, रूप मनोहर होय। सालंकारा रागिनी, दिपत मोहिनी जोय॥"

३. 'वायुपुराण खण्ड २' ५०/२६ 'क्रियमाणोऽप्यलङ्कारो रागं यश्चैव दर्शयेत्।'

४. 'भरतकोश' पृष्ठ १६७ कुम्भ का मत 'श्रोतुश्चित्तस्य सुखदो गमकः स्वरकम्पनम्। गमकः स्थायिवर्णाद्याः नानालंकृत्यलंकृताः।'

सप्तम अध्याय

शैली–विधान

सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि संगीतकला में, विशेषतया भारतीय संगीतकला में भी क्या 'शैली' नाम की कोई चीज है ? उत्तर स्पष्ट है कि जब प्रत्येक ललितकला में शैली पक्ष होता है तो संगीतकला में उसका कैसे अभाव हो सकता है। भारतीय आचार्य 'शैली' शब्द के लिये वृत्ति, रीति आदि पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त करते आये हैं। भारतीय संगीतकला में, किसी संगीत-रचना के अभिव्यक्ति पक्ष का उद्घाटन करने वाली तीन वृत्तियाँ या शैलियाँ प्रचलित हैं—चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा।[1] इसी सन्दर्भ में 'धुवा' वृत्ति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यद्यपि 'ध्रुवा' वृत्ति या शैली वस्तुतः नाट्यकला से सम्बन्धित है तथापि उसके विषय--क्षेत्र में गान और वाद्य दोनों विधायें प्रतिष्ठित हैं। अतः नाट्यकला के आग्रह से हम भारतीय संगीतकला में ४ शैलियाँ स्वीकार कर सकते हैं—चित्रा, वृत्ति, दक्षिणा और ध्रुवा। ये वृतियाँ मूलतः दो व्यापारों से अनुप्राणित रहती हैं—गान और वाद्य।[2] दूसरे शब्दों में, इन वृत्तियों के अन्तर्गत मौखिक संगीत और वाद्य संगीत दोनों के विषय--व्यापार सम्मिलित हैं। संगीतकला के वृत्ति–विधान में गेय और वाद्य तत्वों का समान महत्त्व है। गीत और वाद्य से सम्बन्धित लक्षणों को लक्षित करने वाली इन वत्तियों का विषय--क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जिसे यहाँ निरूपित कर सकना सम्भव नहीं। अतः सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से इन वृत्तियों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

शैली–विधान की पृष्ठभूमि—यह वर्णन कर चुके हैं कि राग-विधान में ग्रह, अंश आदि १० लक्षण सहायक बनते हैं। इन लक्षणों से परिलक्षित होने वाले स्वरों के विशेष संयोजन से राग बनते हैं। कल्लिनाथ के अनुसार, ये राग जब स्वर, पद ताल और मार्ग-इन ४ अंगों से परिनिष्ठित हो जाते हैं तब वे ध्रुवादि संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।[3] शैली–विधान की पृष्ठ–

१–२ 'नाट्यशास्त्र भाग ४'–२६।७१, पृष्ठ १००—"तिस्रस्तु वृतयश्चित्रा-दक्षिणावृत्तिसंज्ञिताः। वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम् ॥"

३ 'संगीतरत्नाकर भाग २' पृष्ठ ३३ 'ग्रहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसंनिवेश-विशेषो रागः तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतमिति

भूमि के ये ही ४ आधार हैं । स्वर, ताल और मार्ग के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिख चुके हैं । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये शैली-विधान को सर्वांगीण बनाते हैं, जिससे रागपरक नाद-सौन्दर्य श्रवणसुखद प्रतीत होने लगता है, उदाहरणार्थ मण्ठ, द्वितीय, कंकाल, प्रतिताल आदि ताल-भेदों का प्रयोजन संगीतकला के अभिव्यक्ति पक्ष को त्याग, सौभाग्य, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से समन्वित करना है ।[१] दूसरे शब्दों में, किसी गानक्रिया के नाद-सौन्दर्य का रहस्य स्वर, ताल, मार्ग और पद प्रकरणों में निहित है, क्योंकि इन से संगीतवृत्तियों का अर्थगौरव सहज सम्प्रेषणीय बनता है। शैली-विधान को समझाने के लिये, यहाँ पद प्रकरण पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। पद-योजना को समझे बिना, शैली-विधान को पृष्ठभूमि को समझना दुष्कर है, क्योंकि मौखिक संगीत का सर्वस्व पद-योजना पर अवलम्बित है।

काव्यकला में 'कविता' के अभिव्यक्ति पक्ष को समझने के लिये काव्य-रीतियों का, नाट्यकला में 'सम्बाद' के अभिव्यक्ति पक्ष को समझने के लिये नाट्य-वृत्तियों का जिस प्रकार महत्त्व अक्षुण्ण है, उसी प्रकार संगीतकला में 'गीत' के अभिव्यक्ति पक्ष को समझने के लिए गीत-वृत्तियों का भी महत्त्व अक्षुण्ण है । गीत के अर्थ-बोध में इन संगीतवृत्तियों या गीतवृत्तियों की उपयोगिता मात्र इतनी है कि वर्ण-योजना, स्वरबद्ध होकर नादात्मक प्रभाव से आवृत्त हो जाये। दूसरे शब्दों में, इन वृत्तियों के कारण गीत के शब्द वर्ण-योजना की अपेक्षा न करते हुए स्वर-योजना की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि वर्ण-योजना के स्वरबद्ध होते ही श्रवणसंवेद्य नाद-प्रभाव से शब्दों का अर्थ भी ध्वनित होने लगता है।

गीत की परिभाषा को निर्धारित करने वाले घटक इस प्रकार गिनाये गये हैं— वर्ण, पद, लय, ताल, स्वर, गमक इत्यादि । शार्ङ्गदेव[२] सोमेश्वर[३] महाराणा कुम्भ[४] आदि संगीताचार्यों के विचारों का समन्वय करते हुए, गीत को विविध वर्णों से अलंकृत, लय से संतुलित, ताल से अनुगत, पदों से नियोजित, स्वरों से रंजित, गमक से संवेदित होने वाली विशेष गानक्रिया कहकर परिभाषित कर सकते हैं। ध्यान रहे कि ये सभी घटक

१. 'संगीतरत्नाकर भाग २' ४/४०, पृष्ठ २०२— "मण्ठद्वितीयकङ्कालप्रतितालेषु कश्चन । तालोऽस्यां त्यागसौभाग्यशौर्यधैर्यादिवर्णनम् ।"

२. 'संगीतरत्नाकर भाग १' १।८।१४-१५, पृष्ठ २८०-"वर्णाद्यलंकृता गानक्रिया पदलयान्विता । गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ।।"

३. 'भरतकोश' पृष्ठ १७५ पर— "स्वराणां च पदानां च तालानां च समन्वयः । गीतमित्युच्यते ·····— ।"

४. 'संगीतराज भाग१' पदोल्लास/श्लोक३२, पृष्ठ२६ -'सलयतालपदा स्वरराजिता विविधवर्णविभूषणभूषिता । गमकपेशलगानगुणाञ्चिता मुनिवरैरिह गीतिरुदाहृता ।'

पद के किसी न किसी प्रकार उपकारक बन कर गानक्रिया में भाग लेते हैं। गानक्रिया में पदों को उचित विराम या विश्राम के साथ गेय बनाने के लिये लय से सम्पन्न करना पड़ता है क्योंकि पद-गान में द्रुत, मध्य, और विलम्बित लय के अनुसार ध्वनि-विस्तार का उत्तरोत्तर दुगुना विकास अथवा ह्रास करना पड़ता है।[१] इसी प्रकार पदोच्चारण को मात्रा-विचार या काल-विचार से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और द्रुत रूपों में तालानुगत करना पड़ता है।[२] पुनः इन पदों को स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी वर्णों के सन्दर्भ में स्थान, प्रमाण, विकार लक्षण-प्रयोजनचतुष्टय के अनुरूप अलंकृत करना पड़ता है।[३] पुनश्च इन पदों को वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वरों के संयोग से, नाद-सौन्दर्य के लिये रंजित करना पड़ता है।[४] अन्ततः पदरूप ध्वनियों को स्वरों के सम्पर्क से गमक के रूप में उद्भिन्न करना पड़ता है।[५] इस प्रकार वर्ण, लय, ताल, स्वर, गमक आदि घटक पद के उपकारक सिद्ध होते हैं। उक्त घटकों से युक्त पदों के द्वारा ही गानक्रिया घटित होती है। भारतीय संगीतकला में, शैली-विधान की यह निर्दिष्ट पृष्ठभूमि अत्यन्त व्यापक है।

पद ही शैली-विधान के विधायक हैं-जगन्नाथमल्ल[६], तुलजेन्द्र भूपाल[७] आदि संगीताचार्यों ने 'गीत' के अनेक पर्यायवाची शब्द गिनाये हैं, जैसे—गीत, गान, गीति, गेय, गान्धर्व, प्रबन्ध, रूपक, वस्तु आदि। यदि इन पर्यायों के साथ 'वृत्तियाँ' शब्द को जोड़ें तो अनेक संज्ञायें बनती हैं, जैसे गीत-वृत्तियाँ, गानवृत्तियाँ इत्यादि। अब समझ सकते हैं कि गीतवृत्तियों की भूमिका कितनी विशद है। नाट्यशास्त्र में २६ वें अध्याय से लेकर ३४ वें अध्याय तक इन वृत्तियों का विविध नामों से अत्र-तत्र विवेचन हुआ है। संगीतरत्नाकर में गीत-

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग ३' ५/४४-४५, पृष्ठ २४ "क्रियान्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः। द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः। द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ।"

२. वही, पृष्ठ८ पर सुधाकरी टीका से-"पञ्चानां लघ्वक्षराणामुच्चारणे यावत्काल-स्तन्मिता तत्कालव्यापिक्रिया मात्रेत्युच्यते। अनया मात्रया अत्र तालप्रकरणे लघुगुर्वादयः कल्पयितव्याः।"

३. 'वायुपुराण खण्ड २' ५०/२२-२३ पृष्ठ १३१

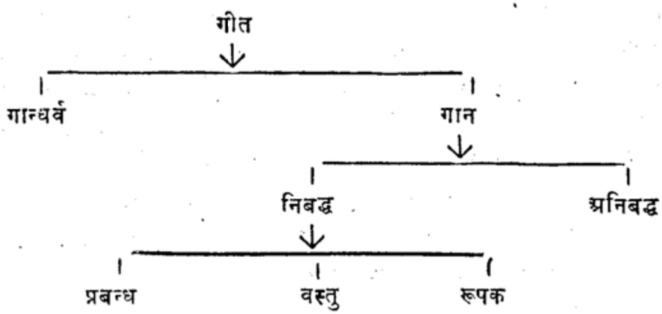
४. देखिये-'सौन्दर्य-विधान' अध्याय

५. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ २१२—'गमक' की परिभाषा

६. 'भरतकोश' पृष्ठ १७५ पर—"गीतं गानं च गीतिश्च गेयं गान्धर्वमित्यपि।"

७. 'संगीतसारामृत' प्रबन्धप्रकरण/१२'प्रबन्धो रूपकं गेयं गीतं वस्त्विति पञ्चधा।

विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किये गये हैं-रंजक स्वर-सन्दर्भ को गीत कहते हैं । उसके गान्धर्व और गान नाम के दो भेद हैं । पुनः गान के दो भेद हैं निबद्ध, अनिबद्ध । निबद्ध के तीन भाग हैं—प्रबन्ध वस्तु और रूपक[1]; अर्थात्—



गीत के उक्त भेदोपभेद पद-योजना के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। संगीतकला में 'पद' का आशय सुप् और तिङ् से युक्त वर्णसमुच्चय से कदापि नहीं। नाट्यशास्त्रकार के अनुसार गानक्रिया के अन्तर्गत स्वर एवं ताल से अनुभावित होने वाले उच्चार्यमाण वर्णसन्दर्भ को पद कहते हैं।[2] उन्होंने पद के दो भेद बताये हैं—निबद्ध और अनिबद्ध। स्पष्ट है कि संगीतरत्नाकर के निबद्ध और अनिबद्ध नामक गान-भेद वस्तुतः नाट्यशास्त्रकार के निबद्ध और अनिबद्ध नामक पद-भेदों के ही प्रकारान्तरेण सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, ये गान के भेद नहीं, अपितु गानगत पद के भेद हैं। संक्षेपतः विविध नाम वाली गानक्रिया के शैली-विधान का मूलाधार पदप्रकरण ही है, चाहे उसका स्वरूप गद्यात्मक हो अथवा पद्यात्मक।

उच्चार्यमाण ध्वनियों के विविध क्रमों को 'पद' कह सकते हैं। काव्यकला में, स्वर और व्यंजन कहे जाने वाले वर्ण अपने सार्थक पाठ के कारण ध्वन्यात्मक शब्द (नाद) कहलाते हैं। संगीत में 'पद' का सम्बन्ध इन्हीं ध्वन्यात्मक शब्दों से है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यकला की भाषा-शैली से संगीतकला की भाषा-शैली पूर्णतया भिन्न है। सुप् और तिङ् से बनने वाले भाषात्मक पद ही षड्ज आदि गेय स्वरों से या उदात्त आदि पाठ्य स्वरों से नियमित होकर

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग ४' अध्याय ४, पृष्ठ १८७-१८८

२. 'नाट्यशास्त्रकार भाग ४' ३२/२७-२८, पृष्ठ३०१-३०२ "पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम्। यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत् सर्वं पदसंज्ञितम् ॥"

नादात्मक पद बन जाते हैं अर्थात् संगीतकला में भाषात्मक पद ही नादामक पद में परिणत हो जाते हैं। किसी भाषा के ध्वन्यात्मक शब्द संगीतसम्मत होकर अपने सार्थक रूप को उसी प्रकार प्रकट करते हैं जिस प्रकार उसी भाषा के वर्णात्मक शब्द व्याकरणसम्मत होकर। अतएव संगीत-कला में शब्द अर्थात् पद का दोहरा व्यक्तित्व है—भाषात्मक और नादात्मक।

यहाँ नाट्यशास्त्र के अनुसार संगीतात्मक पदों की विवेचना की जा रही है। अनिबद्ध पदों का आशय उन पदों से है जो छन्द और वर्णों से नियमित न हों तथा जिनके अर्थ की अपेक्षा में वर्णात्मक शब्दों का योग अधिक हो।[1] अनिबद्ध पदों में शब्द और अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः इनको 'चूर्णपद' भी कहते हैं। अभिनवगुप्त ऐसे पदों को गद्यात्मक मानते हैं।[2] चूर्ण या चूर्णक तो गद्यांश को ही कहते हैं। संगीतकला में, ऐसे पदों का प्रयोग प्रायः पाठ्यसंगीत में ही होता है। दूसरी ओर, वर्णयोजना से संचालित, वर्णगणना से प्रतिपादित, यति या विराम से नियमित तथा छन्दों से समन्वित सार्थक शब्दसमुच्चय को निबद्ध पद कहते हैं। संगीतकला के गान-विधान में, निबद्ध पदों का शत-प्रतिशत बोलबाला है। ये पद्यात्मक होते हैं।[3] किसी पद्यात्मक गीत के पदों को छन्दानुरोध से पदों या चरणों में विभक्त करते हैं। नाट्यशास्त्रकार का यह कथन मान्य हैं कि गीत का ऐसा कोई पद नहीं जो छन्दात्मक या वृत्तात्मक न हो[4]—अतएव गीत के प्रत्येक पद को गेयता के स्तर पर छन्दानुकूल बनाना चाहिये। संगीतशास्त्र में 'एला प्रकरण' के अन्तर्गत गीतों के छन्द-विधान पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[5] संगीतकला में शैली-विधान का सर्वस्व इन्हीं छन्दोबद्ध पदों पर निर्भर है।

प्रत्येक गीत किसी न किसी प्रकार से छन्दोबद्ध होता है। वार्णिक अथवा मात्रिक छन्दों से नियमित होने वाले प्रत्येक गीत में ४ धातुयें होती हैं। हम अपनी सुविधा के लिये 'धातु' के स्थान पर 'पाद' या 'चरण' शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। गीत के प्रथम भाग को 'उद्ग्राह्य', द्वितीय भाग को 'मेलापक', तृतीय भाग को 'ध्रुव' और अन्तिम भाग को

---

१. 'नाट्यशास्त्र भाग २' १४/४०, पृष्ठ २३४–'अनिबद्धपदं छन्दस्तथा चानियताक्षरम्। अर्थापेक्ष्यक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ॥'

२. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' पृष्ठ ३०२–"निबद्धं पद्यमनिबद्धं गद्यमिति तु युक्तम्।"

३. वही, पूर्वोक्त।

४. वही, ३२/३७५ "नास्ति किञ्चिद् वृत्तं तु पदं गानसमाश्रयम्।"

५. देखिये—'संगीतरत्नाकर भाग २' अध्याय ४, पृष्ठ १८६-२०६।

'आभोग' कहते हैं। इन ४ धातुओं या चरणों में कुल मिलाकर १६ पद होते हैं।[1] उद्ग्राह्य में १० पद, मेलापक में २ पद, ध्रुव में ३ पद और आभोग में १ पद का मान नियत है। 'उद्ग्राह्य' धातु के प्रथम ५ पदों में, प्रारम्भ के २ पद अनुप्रास आदि से युक्त होते हैं, बाद के २ पदों के लिये विलम्बित लय का, अन्तिम १ पद के लिये द्रुत लय का आश्रय लेना चाहिये। 'उद्ग्राह्य' धातु के प्रथम ५ पदों का प्रयोग निर्दिष्ट प्रकार से करना चाहिये। 'उद्ग्राह्य' धातु के शेष ५ पदों को भी इसी प्रकार नियोजित करना चाहिये। 'मेलापक' धातु के २ पदों में सम्बोधनवाची शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। 'ध्रुव' धातु से सम्बद्ध ३ पदों में प्रथम २ पद और अन्तिम १ पद को क्रमशः मध्य लय और बिलम्बित लय से गाना चाहिये। इन तीनों पदों में महापुरुष, इष्ट देव आदि का नामोल्लेख भी किया जा सकता है। 'आभोग' धातु के १६वें पद में गीतकार या संगीतकार अपना नाम प्रतिष्ठित कर सकते हैं। संक्षेप में ये १६ पद किसी टेक का अवलम्बन लेकर ही गानक्रिया में अवतरित होते हैं। यदि किसी गीत की पदावली किसी टेक को आधार मानकर, लय या तर्ज के अनुरूप, अग्रसर नहीं होती तो उस पदावली को स्वरबद्ध करने से क्या लाभ? दूषित पदावली के सम्पर्क में आते ही कान बेचैन होने लगते हैं। संगीतश्रोता ऐसी पदावली की पुनरावृत्ति के लिये संगीतकार से कभी आग्रह नहीं करते। वास्तव में, शैली-विधान की उपेक्षा करने वाली गानक्रिया तब तक आकर्षक नहीं हो सकती जब तक वह अपने पदलालित्य से श्रोताओं को विमुग्ध न कर ले, अर्थात् नाद-सौन्दर्य से उन्हें प्रभावित न कर ले। पदों को एक-दूसरे से विधिवत् गुम्फित किये बिना शैली-विधान का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। यदि पदावली स्वगत नाद–सौन्दर्य से श्रवणमधुर, मनोरंजक, हृदयविमोहक होने का दायित्व पूरा नहीं कर पाती तो तत्सम्बन्धी शैली–विधान की सरसता सदैव संदिग्ध रहती है।

काव्यकला में वामन आदि आचार्यों ने रीतियों के अन्तर्गत ओज, प्रसाद, माधुर्य, औदार्य, सौकुमार्य, कान्ति, समाधि, अर्थव्यक्ति, समता, श्लेष— ये १० गुण निर्धारित किये हैं, उसी प्रकार शार्ङ्गदेव आदि आचार्यों ने वृत्तियों के अन्तर्गत ओज, समान, मधुर, सान्द्र, कान्त, दीप्त, समाहित, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न—ये १० गुण निर्दिष्ट किये हैं।[2] गीतवृत्तियाँ इन गुणों से

१. वही, पूर्वोक्त
२. 'संगीतरत्नाकर भाग २' ४/४७, पृष्ठ २०३— "समानो मधुरः सान्द्रः कान्तो दीप्तः समाहितः। अग्राम्यः सुकुमारश्च प्रसन्नौजस्विनाविति ॥"

सर्वगुणसम्पन्न बनती हैं। संगीतरत्नाकर में गीतवृत्तियों से सम्बन्धित गुणों पर व्यापक प्रकाश डाला गया है।[१] विषय में अभिरुचि रखने वाले पाठक वहीं देखने का कष्ट करें। गीतवृत्तियों को अनुप्राणित करने के कारण 'गुण' के स्थान पर 'प्राण' शब्द का प्रयोग भी प्रचलित है। यदि गेय पदावली के माध्यम से अभिव्यक्ति पक्ष का सार्वजनीन उद्घाटन नहीं होता, तो यह समझना चाहिये कि गीतवृत्तियाँ निर्गुण अथवा निष्प्राण होकर निश्चेष्ट हो गईं। इसीलिये हमारे आचार्य किसी गीत के समस्त १६ पदों में इन १० गुणों का विनियोग आवश्यक मानते हैं। समान, मधुर, सान्द्र, कान्त, दीप्त, समाहित. अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न और ओज गुणों को क्रमशः पहले–दूसरे, तीसरे–चौथे, पाँचवें–छठे, सातवें–आठवें, नवें-दसवें–ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें पद-सन्दर्भों में प्रयुक्त करना चाहिये।[२] ये १० गुण अथवा प्राण गीतशैलियों को अनुगुणित अथवा अनुप्राणित करते हैं। इस प्रकार शैली-विधान में ये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। संगीतकला में, शैलीगत रमणीयता वस्तुतः इन्हीं से आन्दोलित होती है। अन्य ललित कलाओं की भाँति संगीतकला भी शैली-विधान की दृष्टि से पश्चात्पद नहीं है। मौखिक संगीत के विचार से ही नहीं अपितु वाद्य संगीत के विचार से भी शैली-विधान का स्वरूप रहस्यमय है।

वाद्य संगीत में, शैली-विधान की भूमिका जितनी व्यापक है उतनी दुर्गम भी। अतः उसके रहस्यमय स्वरूप का अनावरण करना यहाँ सम्भव नहीं। वादन-प्रणाली के कुछ आवश्यक तत्त्व इस प्रकार हैं—अक्षर, मार्ग, विलेपन, कारण, यति, लय, गति, प्रचार, योग, पाणि, पाणिप्रहृत, प्रहार, मार्जना, जाति, अलंकार आदि। नाट्यशास्त्रकार का यह कथन दृष्टव्य है कि पुष्करज वाद्य के प्रसंग में शैली-विधान अर्थात् वादन-प्रणाली के विधान के लिये १६ अक्षर, ४ मार्ग, २ लेपन, ६ करण, ३ यति, ३ लय, ३ गति, ३ प्रचार, ३ संयोग, ३ पाणि, ५ पाणिग्रहत, ३ प्रहार, ३ मार्जना, २० अलंकार, १८ जाति आदि तत्त्वों का व्यावहारिक प्रदर्शन आवश्यक है।[३] 'शैली-विधान में ये सभी तत्त्व किस प्रकार उपयोगी हैं?'—यह स्पष्ट करने के लिये

---

१. वही, ३/४८–५२, पृष्ठ २०४–२०६

२. वही, पृष्ठ २०४–२०६ पर कल्लिनाथ की टीका से।

३. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३४/३६–३८, पृष्ट ४१२–४१३ "षोडशाक्षरसम्पन्नं चतुर्मार्गं तथैव च। द्विलेपनं षट्करणं त्रियति त्रिलयं तथा ॥ त्रियतं त्रिप्रचारं च त्रिसंयोगं त्रिपाणिकम्। दशार्धपाणिप्रहतं त्रिप्रहारं त्रिमार्जनम् ॥ विंशत्य लङ्कारयुतं तथाष्टादशजातिकम्। एभिः प्रकारैः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत् ॥"

यहाँ अवकाश नहीं। संक्षेपतः वाद्य संगीत को मौखिक संगीत का इस प्रकार अनुकरण या अनुसरण करना चाहिये कि शैली-विधान की विविधता एकता में परिणत हो जाये। भारतीय संगीतकला में, शैली-विधान की पीठिका मौखिक संगीत और वाद्य संगीत की सभी सीमाओं को विधिवत् जोड़ती है। संगीतवृत्तियों या गीतवृत्तियों के विवेचन में मौखिक संगीत और वाद्य संगीत के किसी भी तत्त्व को निरर्थक नहीं कह सकते। यदि वाद्यज ध्वनियाँ प्रति पद पर मुखज ध्वनियों का अनुगमन करें तो किसी गीत की पदावली, अनुरूप वादन-प्रणाली से अनुगत होकर नाद-सौन्दर्य से श्रोता-समाज को मुग्ध कर लेगी। अन्य प्रकार से कह सकते हैं कि मौखिक संगीत और वाद्य संगीत के विधिवत् सम्मेलन से संगीतवृत्तियाँ परमार्थतः ध्येयनिष्ठ बनती हैं। यहीं शैली-विधान का अपना लक्ष्य पूरा हो जाता है।

संगीतवृत्तियों की सैद्धान्तिक समीक्षा—वृत्ति को सामान्यतः व्यवहृति या व्यवहार कहते हैं। 'गुणों की प्रधानता से अनुगत व्यवहृति'[1] अथवा 'गुणों की प्रधानता से अभिप्रेत व्यवहार'[2] को 'वृत्ति' नाम से अभिहित कर सकते हैं। नाट्यशास्त्रकार का यह कथन मान्य है कि वृत्तियाँ वाद्य और गीत के गुणों से सम्पन्न होती हैं।[3] अतः हम कह सकते हैं कि वादनकला और गायनकला के गुणों से संगीत-रचना के अभिव्यक्ति पक्ष को प्रधान बनाने वाली प्रवृत्ति ही 'वृत्ति' नाम को अन्वर्थ करती है। यहाँ 'गुण' शब्द उत्कर्षवाची है जिससे वृत्ति के विषय-क्षेत्र का परिज्ञान करना दुष्कर नहीं। 'वाद्य और गीत के गुण अर्थात् उत्कर्ष की प्रधानता ही जहाँ तक स्वीकृत है' वहाँ तक वृत्तियों के विषय-क्षेत्र को विस्तृत समझना चाहिये।[4] वृत्तियों को उत्कृष्ट बनाने वाले 'समान' आदि १० गुण हैं। इन गुणों के कारण ही चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा वृत्तियों के ताल, गीति, लय, यति मार्ग आदि तत्त्व प्रधानतया व्यक्त होते हैं।[5] ध्यान रहे कि काव्यकला में जिस प्रकार 'शब्दगुण' और 'अर्थगुण' प्रचलित हैं उसी प्रकार संगीतकला में 'गीतगुण' और 'वाद्यगुण' भी। संगीत के व्यावहारिक प्रदर्शन में वृत्तियों

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग३' ६/१६५,पृष्ठ२६२'वृत्तिर्गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिर्मता।'
२. 'नाट्यशास्त्र४' पृष्ठ१०० अभिनवभारती 'वृत्तिर्गुणप्रधानभावात्मा व्यवहार इति'
३. वही, २९/७१, पृष्ठ १००, "वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम्।"
४. वही, पृष्ठ १०१, अभिनवभारती से—"गुणशब्दोऽत्रोत्कर्षवाची···वाद्यस्य गीतस्य च गुण उत्कर्षो यत्र प्राधान्यमिति यावत्।"
५. वही, पृष्ठ १०१, नाट्यशास्त्रकार का मत—"तासां तालगीतिलययतिमार्गं प्राधान्यानि यथास्वं व्यञ्जकानि भवन्ति।"

के संसर्ग से ये गुण प्रकट हुआ करते हैं। संक्षेप में, गुणमयी वृत्तियों के बिना संगीत की अभिव्यक्ति सार्वजनीन नहीं बनती अर्थात् निवृत्तिमूलक संगीत में नाद-सौन्दर्य का अधिकार कहाँ ?

यहाँ नाट्यशास्त्र,[१] संगीतरत्नाकर[२] आदि ग्रन्थों के अनुसार संगीत-वृत्तियों की सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है—

(अ) 'चित्रा' नामक वृत्ति—चित्रा वृत्ति वाद्यप्रधान होती है किन्तु वाद्य-योजना संक्षिप्त होनी चाहिये। इसके अन्तर्गत एकल ताल, द्रुत लय, समा यति अनागत ग्रह आदि तत्त्व उत्कृष्टतया अभिव्यक्त होते हैं। चित्रा वृत्ति चित्र मार्ग का अनुसरण करती है,[३] अतः यह दो मात्राओं की कला से द्योतित होती है।[४] अर्धमागधी[५] और मागधी* गीतियाँ चित्रा वृत्ति से विचित्र बन कर सहृदय श्रोताओं को विमुग्ध करती हैं।

(ब) 'वृत्ति' नामक वृत्ति—यहाँ 'वृत्ति' शब्द विशेष और सामान्य अर्थ में प्रयुक्त है। 'सुन्दरी नामक सुन्दरी' अनुच्छेद में 'सुन्दरी' एक ओर व्यक्तिवाची संज्ञा है और दूसरी ओर जातिवाची। यही बात उक्त संदर्भ में भी सत्य है। यह वृत्ति गायनकला और वादनकला को समान महत्त्व देती है। इसके अन्तर्गत द्विकल ताल, मध्य लय, स्रोतोगता यति, समग्रह आदि तत्त्व प्रधानतया अभिव्यक्त होते हैं। वार्तिक मार्ग[६] का अनुसरण करने के कारण, वृत्ति नामक वृत्ति ४ कलाओं से भासित होती है।[७] यही वृत्ति सम्भाविता गीति का विधान करती है।[८] इस वृत्ति के बिना सम्भाविता गीति मनोरंजक नहीं बन सकती।

---

१. वही, पृष्ठ १०१ "तत्र चित्रायां संक्षिप्तवाद्य तालद्रुतलयसमायतिरनागतग्रहाणां प्राधान्यम्। तथा वृत्तौ गीतवादित्रद्विकलतालमध्यलयस्रोतोगतायतिः समग्रह-मार्गाणां प्राधान्यम्। दक्षिणायां गीतिचतुष्कलतालविलम्बितलयगोपुच्छायत्य-तीतग्रहमार्गाणां प्राधान्यय्।"

२. 'संगीतरत्नाकर भाग ३' ६/१६६–१७०, पृष्ठ २६२

३+६. 'संगीतरत्नाकर भाग ३' ६/१७०, पृष्ठ २६२ "मार्गं त्रित्रं वार्तिकाख्यं दक्षिणाख्यं यथाक्रमम्।"

४+७. 'संगीतमकरन्द' नृत्याध्याय/तृतीय पाद/श्लोक ५८, पृष्ठ ४४ 'अष्टमात्रा कला ज्ञेया मार्गे दक्षिणसंज्ञके।वार्तिकस्य तु चतुर्मात्रा कला चित्रा द्विमात्रिका।'

५+८. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३२/४३२–३३, पृष्ठ ३६१।

* 'नाट्यशास्त्रकार चित्रा वृत्ति के अन्तर्गत अर्धमागधी गीति को स्थान देते हैं, जबकि शार्ङ्गदेव मागधी गीति को। मैंने समन्वय कर दिया है। देखिये–'संगीत-रत्नाकर भाग ३' ६/१६६।

(स) 'दक्षिणा' नामक वृत्ति—दक्षिणा वृत्ति गीतप्रधान होती है। चतुष्कल ताल, बिलम्बित लय, गोपुच्छा यति, अतीत ग्रह आदि तत्त्व इसी वृत्ति से तत्त्वतः सम्बन्धित है। यह वृत्ति दक्षिण मार्ग[१] का अनुसरण करती हुई अपनी ८ कलाओं से हमें चकित करती है।[२] इस वृत्ति के द्वारा पृथुला नामक गीति का विधिवत् विधान करने से रचित संगीत मनोरम बनता है।[३]

ध्रुवा वृत्ति और संगीतवृत्तियाँ—जब उक्त तीनों वृत्तियों के यति, लय, पाणि आदि तत्त्व एक-दूसरे से निश्चित रूप से संयोग करते हुए स्थायी हो जाते हैं तो वे ध्रुवा वृत्ति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित माने जाते हैं।[४] ध्रुवा वृत्ति में गीत और वाद्य ध्रुव अर्थात् स्थायी स्वरूप वाले होते हैं, उदाहरणार्थ—ध्रुवा गीत के निर्माण में ऋक्, पाणिका, गाथा तथा अन्य प्राचीन गीतों (मागधी आदि) के प्रयोग निर्धारित रहते हैं।[५] संगीतकला की अपेक्षा नाट्यकला में ध्रुवावृत्ति का विशेष महत्त्व है। ध्रुवा गान से सम्बन्धित गुणों की प्रधानता से अनुगत व्यवहृति या व्यवहार को ध्रुवावृत्ति कह सकते हैं। नाट्य-प्रदर्शन में, प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक, नाट्यप्रेक्षकों के मनोरंजन के लिये, जो प्रावेशिकी आदि संगीत-कार्यक्रम आयोजित होते हैं, वे 'ध्रुवा संगीत' से पुकारे जाते हैं। स्पष्ट है कि नाट्यात्मक होने पर भी ध्रुवावृत्ति का मूल स्वरूप संगीतात्मक है। अन्य संगीतवृत्तियों के विधान में लय, ताल, यति आदि तत्त्व स्थायी रूप से परस्पर सम्बद्ध नहीं रहते, किन्तु ध्रुवा नामक संगीतवृत्ति में उन सभी का ध्रुवीकरण हो जाता है। एक अन्तर यह भी है कि अन्य संगीतवृत्तियाँ केवल मौखिक संगीत और वाद्य संगीत से परिपुष्ट बनती हैं, जबकि ध्रुवा नामक संगीतवृत्ति मौखिक, वाद्य और नृत्य तीनों से परिपुष्ट बनती है। अतः ध्रुवा वृत्ति की दृष्टि से पहले गान, फिर वाद्य और अन्ततः नृत्य का आयोजन करना अभीष्ट है।[६] ध्रुवा वृत्ति का प्रयोजन, प्रकरणाश्रित संगीत-आयोजन को रसपेशल बनाना है।[७] ध्रुवावृत्ति को नाट्योपयोगी होने के साथ-साथ संगीतोपयोगी

---

१. देखिये पूर्वपृष्ठ, क्रमांक ३+६।
२. देखिये पूर्वपृष्ठ, क्रमांक ४+७।
३. देखिये पूर्वपृष्ठ, क्रमांक ५+८।
४. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३२/३०७, पृष्ठ ३०९ "ध्रुवा वर्णास्त्विलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः। ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्माद् तस्मात् ध्रुवा स्मृता ॥"
५. वही, ३२/२, पृष्ठ २८८।
६. वही, ३२/३७८ "पूर्वगानं ततो वाद्यं ततो नृत्यं प्रयोजयेत।"
७. वही, ३२/४३०, "तथा रसकृता नित्यं ध्रुवाः प्रकरणाश्रिताः।"

समझकर संगीतवृत्ति के रूप में मान्यता देना अनुचित नहीं। चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा के अतिरिक्त ध्रुवा नामक चौथी संगीतवृत्ति औचित्यतः मान्य है।

नाट्यकला के परिवेश में संगीतवत्तियाँ—प्रश्न यह है कि इन संगीतवृत्तियों की नाट्यकला में क्या उपयोगिता? ध्रुवा वृत्ति की उपयोगिता तो सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं। शेष ३ संगीतवृत्तियों की उपयोगिता भी नाट्यशास्त्रकार की अनुशंसा से हमें स्वीकार्य है। नाट्यकला, क्योंकि संगीतकला से अनुगत रहती है, अतः वह संगीतवृत्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकती। नाट्य-प्रदर्शन में ये संगीतवृत्तियाँ मार्ग, गीति, लय, ताल आदि उपादानों से ही अपने वर्ण्य स्वरूप को प्रकट करती हैं। इन संगीतवृत्तियों के कारण ही नाट्य प्रदर्शन आद्यन्त राग-जनक बनकर सर्वग्राह्य हो जाता है, जैसे—इन संगीतवृत्तियों के आधार पर पूर्वरंग के ३ भेद गिनाये गये हैं—चित्र, मिश्र और शुद्ध। चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्गों का अनुसरण करने वाले चित्र, मिश्र और शुद्ध पूर्वरंग परिभाषानुसार चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा संगीत-वृत्तियों के अनुयायी सिद्ध होते हैं।[1] इसी प्रकार मागधी-अर्धमागधी, सम्भाविता, पृथुला गीतियों को प्रश्रय देने वाले ये पूर्वरंग-भेद क्रमशः उक्त संगीतवृत्तियों को ही परिलक्षित करते हैं।[2] अभिनय के प्रसंग में भी ये संगीतवृत्तियाँ अत्यन्त उपयोगी कही जा सकती हैं, जैसे एककल, द्विकल और चतुष्कल तालों को लक्ष्य मानकर गति-प्रचार करने वाले निम्न, मध्यम और उत्तम कोटि के अभिनेता क्रमशः चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा वृत्तियों के प्रस्तोता सिद्ध होते हैं।[3] इसी प्रकार द्रुत, मध्य और विलम्बित लय से गति प्रचार करने वाले निम्न, मध्यम और उत्तम कोटि के अभिनेता क्रमशः उक्त वृत्तियों के स्थापक सिद्ध होते हैं।[4] नाट्यकला के लिये संगीतवृत्तियों की उपयोगिता प्रमाणित करने वाले ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु पृष्ठों के संकोच से विस्तार करना संभव नहीं।

१+२. 'नाट्यशास्त्र भाग १' अध्याय ५, पृष्ठ २५३-२५५—
'माग धीत्वथ कर्त्तव्या त्वथवा त्वर्धमागधी। पूर्वरङ्गे भवेच्चित्रे चित्रमार्गसमाश्रिता॥
यथा मिस्त्रस्तु योक्तव्यःपूर्वरङ्गे भवेदिह। मिश्रे सम्भाविता कार्या तदा वार्तिकमाश्रिता॥
शुद्धे च पृथुला कार्या दक्षिणं मार्गमाश्रिता।"

३. 'नाट्यशास्त्र भाग २' १२/११, पृष्ठ १३२—"चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत्। तथा चैककलः पातो नीचानां संप्रकीर्तितः॥"

४. वही, १२/१३, पृष्ठ १३४ "स्थैर्योपन्ना गतिरुत्तमानां, मध्या गतिर्मध्यमसंमतानाम्। द्रुता गतिश्च प्रचुराधमानां लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम्।"

निष्कर्ष यह है कि भारतीय संगीतकला में, मौखिक संगीत, वाद्य संगीत और नृत्य संगीत के रचनासौष्ठव के लिये ये वृत्तियाँ अत्यन्त उपकारक हैं। वृत्ति-विधान या शैली-विधान के बिना रचित संगीत कदापि हृदयंगम नहीं हो सकता। इन संगीतवृत्तियों का अपना सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक इतिहास है जिसका यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया गया है। प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली–विधान के बिना संगीताभिव्यक्ति प्रभविष्णु नहीं बन पाती। ऐसी असफल अभिव्यक्ति सुरुचि का सम्पादन नहीं कर पाती। वृत्ति–विधान को प्रश्रय न देने वाली संगीत–रचना श्रवणमधुर, मनोरंजक और हृदयविमोहक नहीं हो सकती। ध्वनियों के माध्यम से निरूपित होने वाले विषय, गायनक्रिया या वादन–क्रिया के रागसम्मत या रससम्मत न होने के कारण हमारे मानस-पटल पर बिम्बित नहीं हो पाते। नाद-सौन्दर्य के अभाव से भावयित्री प्रतिभा सौन्दर्यास्वादन के लिये तरसती रहती है। संक्षेपतः भारतीय संगीत की भाषा को समझने के लिये पहले उसके शैली-विधान से अवगत होना आवश्यक है। भारतीय संगीतकला वृत्ति-विधान या शैली-विधान के चमत्कार से हमें युगों–युगों से चमत्कृत करती आ रही है क्योंकि उसकी वृत्तिसंहिता में नाद–सौन्दर्य के आदर्श की विधिवत् चर्चा की गई है। यही है सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय संगीतकला का वृत्ति–विधान या शैली–विधान।

अष्टम अध्याय

औचित्य–विधान

भारतीय ललित कलायें औचित्य-विधान के लिये प्रसिद्ध हैं। संगीतकला का तो औचित्य-विधान के प्रति विशेष झुकाव है, क्योंकि संगीत के अनुचित प्रयोग में सरसता कहाँ? दोषों के त्याग से संगीतकला सुन्दर बनती है। औचित्य के विघातक तो दोष ही होते हैं। अतः संगीतकला में औचित्य-विधान का आशय उस आयोजन से है जिसको लक्ष्य मानकर संगीतकार संगीत-रचना के समस्त सम्भाव्य दोषों का सदैव बहिष्कार किया करते हैं। अनौचित्य के विषय में किंचित् भी असावधानी नहीं बरतनी चाहिये, अन्यथा संगीतकला का सुन्दर स्वरूप भी कुरुचि का निमित्त बन जाता है। यहाँ यह समझाने का प्रयास किया जा रहा है कि भारतीय संगीतकला औचित्य-विधान की दृष्टि से भी पश्चात्पद नहीं हैं। श्री जोग के अनुसार क्षेमेन्द्र के द्वारा गिनाये गये सम्पूर्ण औचित्य-भेद तीन श्रेणियों में समाविष्ट किये जा सकते हैं—व्याकरणगत, तत्त्वगत और स्वभावगत।[1] भारतीय संगीतकला के औचित्य-विधान की सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा इन्हीं तीन क्रमों में प्रस्तुत की जायेगी।

(१) व्याकरणगत औचित्य-विधान-कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात आदि औचित्य-प्रकार व्याकरणगत माने गये हैं। नादप्रधान होने के कारण संगीतकला निरर्थक शब्दों को भी प्रश्रय देती है। संगीतकार के आलाप में ऐसे ही निरर्थक वर्णसमुदाय सुने जा सकते हैं। मौखिक संगीत में क ख ग आदि ध्वनियाँ गानक्रिया से अनुमोदित होकर सस्वर उच्चारण के साथ कण्ठ आदि स्थानों से व्यक्त होती हैं। वाद्य संगीत में वाद्य पर आघात करते हुए वादक मौखिक संगीत की ध्वनियों का अक्षरशः अनुकरण करता है। वाद्यज ध्वनियों की मुखज ध्वनियों की भाँति कोई स्थूल भाषा-लिपि नहीं होती। वाद्यज ध्वनियों को सुनकर केवल इतना ही समझा जा सकता है कि वादक अमुक-अमुक अक्षरों का अनुकरण करते हुए वादन कर रहा है। अतएव वाद्य संगीत में अमूर्त अक्षर घटित होते हैं, जबकि मौखिक संगीत में मूर्त अक्षर। इतना होते हुए भी मौखिक संगीत और वाद्य संगीत में व्यक्त होने वाली ध्वनियाँ 'गेय' तत्त्व के आग्रह से बहुधा निरर्थक होती हैं।

---

१. 'सौन्दर्यशोध आणि आनन्द बोध' पृष्ठ १०६

यदि सांगीतिक ध्वनियाँ व्याकरणिक सिद्धान्तों का सर्वथा अनुगमन करने लगें तो गीत ही काव्य कहा जाने लगता है, संगीत नहीं। अतः काव्यकला में व्याकरणगत तत्त्वों का जितना आग्रह है, उतना संगीतकला में कदापि नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संगीतकला व्याकरण-विषयक औचित्य-विधान की नितान्त उपेक्षा करती है। 'प्रबन्ध प्रकरण' के अन्तर्गत इन व्याकरणिक उपादानों की विशद चर्चा की गई है। द्विपदी, चतुष्पदी, आर्या, गाथा, तोटक आदि प्रबन्धों में अवतरित होने वाली शब्द-योजना सुप् और तिङ् प्रत्ययों से विलग नहीं होती। संगीतकला में छन्दगत 'पद' (चरण) के अनुरोध से व्याकरणगत 'पद' (शब्द) की सम्पूर्ण मर्यादायें शिथिल हो जाती हैं। व्याकरणिक नियम संगीतकला में आकर प्रायः वैकल्पिक हो जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के गीतों में पदान्तस्थ किंवा पदमध्यस्थ वर्ण विकल्प से यथावसर लघु-गुरु मान लिये जाते हैं।[1] गीतों में वर्ण-योजना व्याकरण के शासन में अनुशासित नहीं रहती। अतः यह सत्य है कि संगीतकला में नाद-सौन्दर्य के आग्रह से व्याकरणिक घटक यथावसर यादृच्छिक बना लिये जाते हैं। इसी औचित्य से पदावली में व्याकरणिक तत्त्वों का विनियोग करना चाहिये।

हमारे संगीताचार्य व्याकरणौचित्य के पक्षपाती हैं। वे जानते हैं कि गानक्रिया में इस तथ्य का ध्यान रखने से कम से कम 'कर्णकटुता' का तो तिरोभाव हो ही जाता है। पुनः संगीत-रचना व्याकरणसम्मत बन कर अपने निर्दोष स्वरूप से हमें आकर्षित करने लगती है। वह जन-रुचि के अनुकूल चमत्कार का नूतन वितान रचती है। व्याकरण की दृष्टि से निकृष्ट गानक्रिया के संसर्ग में आकर श्रवणेन्द्रिय व्याकुल होने लगती है। इसी प्रकार के गीत दूषित कहे जाते हैं। संगीताचार्य नान्यभूपाल ने कुछ गीत-दोष गिनाये भी हैं— शंकित, भीत, उद्घृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, शिरोगत, स्थानवर्जित, विस्वर, नीरस, श्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल, एवं तालहीन।[2] व्याकरणाचार्य पाणिनि ने भी इन दोषों की चर्चा की है।[3] ये समस्त दोष तभी उदय होते हैं जब गानक्रिया में उच्चार्यमाण ध्वनियाँ व्याकरणौचित्य से सर्वथा सम्बन्धविच्छेद कर लेती हैं। यों भी कह सकते

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग २' ४/५४-५६, पृष्ठ २०६-२०७

२. 'भरतभाष्यः प्रथम खण्ड' "शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्। काकस्वरं शिरोगतं तथा स्थानविवर्जितम्॥ विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्। व्याकुलं तालहीनं च गीतदोषाश्चतुर्दश॥"

३. 'पाणिनीय शिक्षा' श्लोक ३४, पृष्ठ ४२

हैं कि व्याकरणगत अनौचित्य के प्रसार से गानक्रिया श्रवणेन्द्रिय की संवेदनशीलता को अतिक्रान्त कर लेती है, जिससे वह उपेक्षणीय बन जाती है। ऐसी गानक्रिया में भावोद्बोधन की क्षमता प्राय: नगण्य होती है। अतएव रागालाप करते समय व्याकरणौचित्य के आग्रह से उक्त दोषों का यथासम्भव वहिष्कार करना चाहिये। इस बात को व्याकरणाचार्य पाणिनि भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार उच्चारण–सम्बन्धी दोषों का निराकरण तभी सम्भव है जबकि संगीतकार अभ्यास के समय 'द्रुता' वृत्ति को, प्रयोग के समय 'मध्यमा' वृत्ति को, शिक्षण के समय 'विलम्बिता' वृत्ति को प्रदर्शित करे।[१] इस दृष्टि से तालौचित्य के साथ-साथ व्याकरणौचित्य का भी निर्वाह किया जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

संगीतशास्त्री गानविद्या का व्याकरणकार होता है। वह गानक्रिया को व्याकरणसम्मत बनाकर सहृदय श्रोता को शीघ्र ही मुग्ध कर लेता है। संगीतकार आचार्यों के निर्देशानुसार गेय वर्णावली का विधिवत् उच्चारण किया करते हैं। पाणिनि ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है। उनके अनुसार जिस प्रकार व्याघ्री दाँतों से न दबाते हुए एवं 'कहीं गिर न जायें'—भय सें सचेत रहते हुए अपने बच्चे को अत्र-तत्र ले जाती है, उसी प्रकार वक्ता (गायक, पाठक आदि) भी उच्चार्यमाण वर्णावली को दाँतों से न दबाते हुए एवं 'कहीं भ्रष्ट न हो जाये'—भय से सचेत रहते हुए अत्र-तत्र प्रयुक्त करे।[२] पाणिनि ने अन्यत्र भी इसी आशय की चर्चा की है।[३] वैदिक संगीत हो और चाहे शास्त्रीय संगीत, किन्तु व्याकरण–सम्मत बनाने के उपरान्त ही उसे प्रयुक्त करना चाहिये। साम संगीत की गान–प्रणाली भी व्याकरणसापेक्ष है। स्वर या वर्ण के विचार से दुष्ट प्रयोग वाले मंत्र व्यर्थ कहे जाते हैं।[४] पदावली का सस्वर उच्चारण भी, व्याकरणसम्मत न होने से अनिष्टकारक होता है।

व्याकरणाचार्यों ने जो दोष गिनाये हैं, संगीताचार्य उन्हें ही कुछ परिवर्तन के साथ दोहराते हैं। शार्ङ्गदेव के मत से किसी गीत की पदावली का उच्चारण- लोकदुष्ट, शास्त्रदुष्ट, श्रुतिविरोधी, कालविरोधी,

---

१. वही, श्लोक २२, पृष्ठ ३७ "अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥"

२. वही, श्लोक २५, पृष्ठ ४१ "व्याघ्री यथाऽहरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्। भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्।"

३. वही, श्लोक ३१–३२; ५०–५१

४. वही, श्लोक५२ "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।"

पुनरुक्त, कलावाह्य, गतक्रम, अपार्थक, ग्राम्य एवं सन्दिग्ध नहीं होना चाहिये।[1] इन दोषों से संगीत–रचना में नाद-सौन्दर्य का तिरोभाव हो सकता है। स्पष्ट है कि ये समस्त दोष, किसी न किसी प्रकार, व्याकरणगत अनौचित्य से उद्भूत होते हैं। अतः व्याकरणौचित्य का विधान करने के लिये यह आवश्यक है कि इन दोषों का निराकरण किया जाये। व्याकरणाचार्यों ने तभी तो षड्ज आदि गेय स्वरों का सम्बन्ध उदात्त आदि पाठ्य स्वरों से दिखलाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किसी छन्दोबद्ध पदावली के गान या पाठ के मूलाधार एक ही हैं। किसी पद्य का चाहे सस्वर पाठ किया जाये और चाहे सस्वर गान, किन्तु दोष तो मूलतः व्याकरणिक ही रहेंगे। पाठ्य संगीत एवं गेय संगीत में घटित होने वाले उच्चारणविषयक दोषों का सर्वथा उच्छेद करना चाहिये, ताकि व्याकरणौचित्य–विधान को व्यावहारिक बनाया जा सके। इस औचित्य-विधान के आग्रह से ही आचार्य यह निर्देश देते हैं कि षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का आलाप क्रमशः मयूर, चातक, अज, क्रौंच, पिक, अश्व और गज की बोलियों के समान करना चाहिये।[2] निष्कर्षतः भारतीय संगीतकला व्याकरणगत औचित्य–विधान को येन–केन–प्रकारेण प्रश्रय देती है। यों भी कह सकते हैं कि संगीतशास्त्र गान का व्याकरण ही है। किसी गीत की वर्णावली को स्वरों के साँचे में सँजोते समय ४ श्रुति, ३ श्रुति और २ श्रुति वाले स्वरों की व्याकरण मूलतः गुरु स्वर, लघु स्वर और अर्ध स्वर के प्रमाण से परिवर्तित होती है, जैसा कि ध्वनिवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।[3] मौखिक संगीत का तो व्याकरणौचित्य-विधान से घनिष्ठ नाता है। भारतीय संगीतकला में व्याकरणगत औचित्य-विधान का यह संक्षिप्त वर्णन सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से निर्मूल्य नहीं, यद्यपि उसकी सीमा मुख्यतः मौखिक संगीत के उच्चारण विधान या आलाप–विधान तक ही विस्तृत है।

(२) **तत्त्वगत औचित्य-विधान**—काल, देश, कुल, व्रत आदि औचित्य-भेद तत्त्वगत हैं। संगीतकला में ये शब्द सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यहाँ इन भेदों की संक्षिप्त किन्तु तात्त्विक व्याख्या की जा रही है—

(क) **कालौचित्य**—संगीतकला में 'काल' के लिये 'ताल' नाम प्रचलित है। गीत आदि की मिति को सूचित करने वाले काल को 'ताल'

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग २' ४/३७९, पृष्ठ ३२३

२. 'संगीतमकरन्द' संगीताध्याय/प्रथम पाद/श्लोक १३–१४, पृष्ठ २

३. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ १७२

कहते हैं।[१] 'तल–ताली-ताल' सूत्र से कौन परिचित नहीं? मौखिक संगीत और वाद्य संगीत में विरामों या ठहरावों को इंगित करने के लिये हथेलियों के तलों से ताली दी जाती है। 'ताल' नाम के प्रचलित होने का यही औचित्य है। अतः संगीतकला में कालौचित्य का अभिप्राय तालौचित्य से है। तालौचित्य के सन्दर्भ में मात्रा, कला, विराम, यति, लय, काल आदि नामों की चर्चा की जाया करती है। ये सभी तालौचित्य के ही घटक हैं, उदाहरणार्थ—पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जो काल-वेला व्यतीत होती है, उसे 'मात्रा' कहते हैं;[२] विच्छेद या विराम में लगने वाले काल की मर्यादा से ही 'लय' का अस्तित्व स्वीकृत है[३]— इत्यादि। इसी प्रकार अन्य घटकों की व्याख्या की गई है। अतः संगीत-रचना में तालौचित्य की ये समस्त प्रणालियाँ ध्येय हैं। प्रस्तुत निर्देश की अवहेलना करने वाले कलाकार अपने संगीत को व्यवहारसंगत नहीं बना सकते। तालौचित्य के लक्ष्य से पतित संगीत को 'गूंज' मात्र समझना चाहिये। ऐसे संगीत में नाद-सौन्दर्य का विलक्षण चमत्कार कहाँ? अतः गानक्रिया में विरामों या ठहरावों के सूचक समस्त साधन समयसापेक्ष सिद्ध होते हैं, जैसे–मात्रा-विधान एवं लयविधान का मूल प्रयोजन गानक्रिया को विच्छेदों या विरामों में नियन्त्रित करते हुए तालमय बनाना है। काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति एवं प्रस्तार तत्त्व तालौचित्य-विधान के साधन कहे जा सकते हैं। आचार्य इन्हें 'तालप्राण' कह कर इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं। इनके बिना स्वरों की तात्त्विक योजना अधूरी रहती है, क्योंकि वे रागजनक नहीं बन पाते। तालौचित्य से विमुख संगीत-रचना सौन्दर्यानुभूति का आधार नहीं हो सकती। वास्तव में तालौचित्य–विधान के बिना यह सम्भव नहीं कि कोई संगीत–रचना श्रोता के मानस-पटल पर रोचक बिम्ब अंकित कर सके। संगीतकला के सभी कार्यक्रमों को तालिक बिम्ब मानते हुए जकरकैन्डल भी तालौचित्य-विधान का ही अनुमोदन करते है।[४]

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग ३' ५/३–६, पृष्ठ ५ पर 'सुधाकरी' टीका से "गीतादेः मितिर्मानं विदधत् कुर्वन् कालः ताल इत्युच्यते।"

२. वही, ५/१६, पृष्ठ ८ पर 'सुधाकरी' से "पञ्चानां लघ्वक्षराणामुच्चारणे यावत्कालस्तन्मिता तत्कालव्यापिक्रिया मात्रेत्युच्यते।"

३. 'नाट्यशास्त्र भाग २' पृष्ठ ३९९, अभिनवभारती से "विच्छेदो विरामः, स च कियन्तं कालमिति लयोऽपि तेनैव स्वीकृतः।"

4. 'Sound And Symbol' Page 258.

निश्चित ठहरावों पर निश्चित समय तक टेक न लेने वाले स्वर वस्तुत: तालविरोधी होते हैं, क्यों कि वे तालिक बिम्ब (Time images) के निमित्त नहीं बन पाते। इस प्रसंग की चौथे अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। संक्षेपत: भारतीय संगीतकला तालौचित्य-विधान के प्रति उदासीन नहीं।

(ख) **देशौचित्य**—संगीतकला में 'देश' के लिये 'स्थान' शब्द नियत है। यहाँ 'स्थानौचित्य' पर विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। अन्तर्जगत् के जिस प्रदेश पर निर्भर रहकर स्वरालाप किया जाये उसे 'स्थान' कहते हैं। भारतीय संगीतकला में प्राय: प्रत्येक स्वर के एक से अधिक स्थान नियत हैं। इस विषय में आचार्यों के विचार एकरूप नहीं हैं। पार्श्वदेव के अनुसार प्रत्येक स्वर के स्थान इस प्रकार गिनाये गये हैं—[1]

क्रमांक	स्वर	स्थान	योग
१.	षड्ज	नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा, दंत	६
२.	ऋषभ	कण्ठ, शीर्ष	२
३.	गान्धार	„	„
४.	मध्यम	हृदय	१
५.	पंचम	दन्त, ओष्ठ, कण्ठ, शिर, हृदय	५
६.	धैवत	कण्ठ, तालु, शिर, हृदय	४
७.	निषाद	नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा, दंत, ओष्ठ	७

यहाँ यह जान लें कि प्रत्येक स्वर अनेक स्थानों के संसर्ग में आकर भी किसी या किन्हीं स्थान विशेष से ही उद्भिन्न होता है, उदाहरणार्थ-षड्ज स्वर ६ स्थानों से उद्गत होकर भी मुख्यतया 'कण्ठ' प्रदेश से ही उद्भिन्न होता है। मुझे ओंकारनाथ ठाकुर का विवेचन संगत जान पड़ता है। उनके द्वारा दी गई तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कण्ठ से षड्ज स्वर, शिर से ऋषभ स्वर, नासिका से गान्धार स्वर, उर से मध्यम स्वर, उर-कण्ठ-शिर से पंचम स्वर, तालु से धैवत स्वर तथा सभी स्थानों से निषाद स्वर का आलाप करना चाहिये।[2] यदि इन-इन स्थानों से स्वरालाप न किया जाये तो गान–

१. 'संगीतरत्नाकर भाग १' पृष्ठ ८४ 'सुधाकरी' टीका में 'संगीतसमयसार' से।
२. 'प्रणवभारती' पृष्ठ २७६, परिशिष्ट 'ख'—तालिका से।

क्रिया 'स्थानवर्जित' दोष से युक्त समझी जाती है। स्थानौचित्य से हीन स्वर--योजना सरस होते हुए भी नीरस प्रतीत होने लगती है। इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि षड्ज आदि स्वरों को मयूर आदि पक्षियों की बोलियों के समान उचित स्थानों से उद्भिन्न करना चाहिये। इस दृष्टि से तालौचित्य एवं स्थानौचित्य एक दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं।

स्थानौचित्य के अन्तर्गत कदाचित् मण्डप-विधान को भी सम्मिलित कर सकते हैं। मण्डप उचित आकार-प्रकार का होना चाहिये। विशालकाय मण्डप में संगीत प्रतिध्वनित होने लगता है, जिससे संगीत की ध्वनि-लहरें स्पष्टतया श्रवणगोचर नहीं हो पातीं। इसी प्रकार वायु चलने की विपरीत दिशा से संगीत का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये, अन्यथा वायु की सनसनाहट में संगीत विलीन हो जायेगा। पुनः गायक एवं श्रोता के बीच में दीवार आदि का अवरोध नहीं होना चाहिये अन्यथा संगीतात्मक नाद बोधगम्य न हो सकेगा। निष्कर्षतः स्थानौचित्य के प्रसंग में संगीताचार्य, संगीतप्रस्तोता, संगीतश्रोता—सभी को अति सतर्क रहना चाहिये। स्थानौचित्य के बिना संगीतात्मक नाद की श्रीवृद्धि सम्भव नहीं।

(ग) **कुलौचित्य**-भारतीय संगीतकला में समस्त सांगीतिक उपादान 'कुल' की धारणा से प्रगतिशील बनते हैं। 'ग्राम-जाति-कुल' सूत्र सांगीतिक समस्याओं के समाधान के लिये उतना ही उपयोगी है जितना कि सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये। लोक में लोगों के संघगत समूह को ग्राम, वर्णगत सम्प्रदाय को जाति एवं गोत्रगत संगठन को कुल कहते हैं। भारतीय संगीतकला भी इसी विचार-धारा में अग्रसर होती है। संगीताचार्य मतंग ने इस विषय की समुचित व्याख्या की है। उनके कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार लोक में नर-नारी आदि के समूह को 'ग्राम' कहते हैं, उसी प्रकार संगीत में स्वर-श्रुति आदि* के समूह को भी 'ग्राम' कहते हैं। लोकगत एवं संगीतगत

---

*एक ओर लोक में बालक-बालिका, किशोर-किशोरी, युवक-युवती वृद्ध--वृद्धा सभी को एक साथ सूचित करने के लिये 'नर-नारी' नाम से पुकारते हैं तो दूसरी ओर संगीतकला में समस्त संगीतावयवों को एक साथ सूचित करने के लिये ही 'स्वर-श्रुति' नाम से। वैसे तो ये प्रयोग 'सामान्यार्थक' हैं किन्तु आचार्य उनके विशेषार्थक स्वरूप को द्योतित करने के लिये प्रसंगवश 'आदि' शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रस्तुत विवेचन में 'सामान्यार्थक' स्वरूप वाले नर-नारी किंवा 'स्वर-श्रुति' प्रयोग व्यंग्यात्मक समझें ताकि अर्थ का अनर्थ न हो।

'ग्राम' के विषय में मतंग[१] के अतिरिक्त आचार्य वेंकटमखि के विचार अधिक स्पष्ट हैं।[२] जिस प्रकार लोक में नर-नारियों की ब्राह्मण आदि जातियाँ प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार संगीतकला में स्वर--श्रुतियों की षाड्जी आदि जातियाँ भी।[३] आचार्य मतंग लिखते हैं कि ये जातियाँ "श्रुति, ग्रह, स्वर आदि के समूह" अर्थात् ग्राम से जनित होती हैं।[४] यहाँ यह बात भी निर्णीत हो जाती है कि लोक की भाँति संगीतकला में भी 'ग्राम' और 'जाति' का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध परिलक्षित होता है। कुलौचित्य की भूमिका यहीं से प्रारम्भ होती है। आचार्य मतंग के अनुसार सकल राग आदि को जन्म देने के कारण 'जाति' नाम स्वतः सार्थक है।[५] अब यह कह सकते हैं कि लोकगत ग्राम में नर-नारी ही ब्राह्मण आदि जातियों के लक्षण से शुक्ल-शुक्ला नामधारी होकर गोत्रगत कुलों के प्रतिनिधि कहे जाते हैं। इसी प्रकार संगीतगत ग्राम में स्वर-श्रुति ही षाड्जी आदि जातियों के लक्षण से राग--रागिनी नामधारी होकर नादगत कुलों के निष्पादक कहे जाते हैं। दोनों दशाओं में 'नर-नारी' अथवा 'स्वर श्रुति' सदैव, कुलौचित्य के आग्रह से, 'कुटुम्बी' नाम से पुकारे जाते हैं। जिस प्रकार लोकगत ग्राम में 'शुक्ल' आदि कुल के कुटुम्बी एकत्र निवास करते हैं, उसी प्रकार संगीतगत ग्राम में 'राग' आदि कुल के कुटुम्बी भी एकत्र निवास करते हैं। आचार्य मतंग इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार कहते हैं—"स्वर, श्रुति आदि से संयुक्त षड्ज और मध्यम ग्राम समूहवाची हैं, जिस प्रकार सभी कुटुम्बी एक होकर (एकत्र) वास करते हैं— अतः नर-लोक किंवा संगीत-लोक में वह ग्राम नित्य व्यवस्थित है"।[६] कुलौचित्य के समर्थक आचार्य मतंग ही नहीं अपितु भगवत-शरण उपाध्याय भी हैं। उनके मन्तव्य को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना संगत है—" और जब राग और रागिनियाँ हुईं तो एक पूरे परिवार

---

१. 'बृहद्देशी' स्वर। श्लोक ८९-९० 'समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ'
२. 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका प्रथम भाग' ३/६१, पृष्ठ २७ "यथा जनसमूहस्य लोके ग्राम इति प्रथा। तथा स्वरसमूहोऽत्र ग्राम इत्युपचर्यते।"
३. 'बृहद्देशी' पृष्ठ ५६ "यथा नराणां ब्राह्मणत्वादयो जातयः।"
४. वही, पृष्ठ ५५ "श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्ते जातयः।"
५. वही, पृष्ठ ५२-५३ "अथवा सकलस्य रागादेर्जन्महेतुत्वाज्जातय इति।
६. वही, स्वरनिर्णय। श्लोक ८९-९०, पृष्ठ २० "समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ। यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूत्वा वसन्ति हि, सर्वलोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितः॥"

की कल्पना भी जगी और रागों, राग–पत्नियों, राग–पुत्रों और राग-बधुओं का एक समूचा कुटुम्ब ही उठ खड़ा हुआ।"[१] संगीतचार्य मतंग भी "अथवा सकलस्य रागादेर्जन्महेतुत्वाज्जातय इति" कथन में 'रागादेः' प्रयोग के द्वारा इसी आशय को स्पष्ट करना चाहते हैं। 'आदि' शब्द के द्वारा राग-रागिनियों के समस्त परिवार की सूचना दी गई है (अधिक जानकारी के लिये दे० चतुर्थ अध्याय)।

इस गहन अध्ययन के उपरान्त हम इस पीठिका पर आ पहुँचते हैं कि हमारे संगीताचार्य कुलौचित्य-विधान के सच्चे समर्थक रहे हैं। लोक–जीवन के साक्ष्य पर प्रस्तुत की गई 'कुल' की व्याख्या संगीतकला में, सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वथा औचित्यपूर्ण है। समस्त संगीतावयव राग-रागिनियों के कुल से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। कुलौचित्य के कारण ही संगीतकला में समस्त व्यापार सुचारु रूप से घटित हुआ करते हैं। इस व्यवस्था से प्रभावित होकर ही सहृदय सदैव संगीत-लोक में सुखपूर्वक रमण किया करते हैं। वास्तव में कुलौचित्य विधान के बिना संगीत-रचना कभी मर्यादित नहीं हो सकती। भारतीय संगीतकला में राग-रागिनियों के कुल संगीतश्रोताओं को सदैव रागमय बनाया करते हैं। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि संगीतकला में कुलौचित्य-विधान नादाधीन है, जब कि काव्यकला में भावाधीन। यदि एक ओर संवादी, अनुवादी, विवादी और वादी स्वरों से निष्पन्न होने वाले राग ही कुलौचित्य–विधान के मुख्य विधायक होते हैं तो दूसरी ओर विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भावों से निष्पन्न होने वाले रस ही। अतः दोनों कलाओं के कुलौचित्य-विधान में किंचित् अन्तर है। फिर भी रागानुभूति को रसानुभूति से पृथक् नहीं समझना चाहिये (दे० पंचम अध्याय)। काव्यकलागत कुलौचित्य-विधान की चर्चा शोधप्रबन्ध में हो की जा सकेगी। रागों के कुल की मर्यादायें यदि खण्डित होती हैं तो संगीतकार रागों के माध्यम से बिम्ब-विधान को कार्यान्वित नहीं कर सकते। कुलौचित्य–विधान के प्रति भारतीय संगीतचार्यों का इतना आग्रह है कि उनके अपने अलग-अलग घराने हैं। प्रत्येक घराने की अपनी-अपनी गायकी होती है जो अन्य घरानों की गायकी से भिन्न हुआ करती है।[२] गुरु–शिष्य परम्परा के प्रतिपादक ये घराने रागिनियों के विशेप-विशेष कुलों के प्रतिनिधि होते हैं। निष्कर्षतः सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से कुलौचित्य-विधान का अर्थ-गौरव अपरम्पार

---

१. 'संगीत की कहानी' पृष्ठ १६
२. 'ध्वनि और संगीत' पृष्ठ २४६

है। अतः नाद–सौन्दर्य की अनुभूति में कुलौचित्य की धारणा भी उपयोगी है।

३. स्वभावगत औचित्य–विधान – भारतीय संगीतकला के तत्त्वगत औचित्य-विधान की चर्चा की जा चुकी है। यहाँ स्वभावगत औचित्य विधान को समझाने का प्रयास किया जा रहा है। किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप के विश्लेषक उपादान स्वभावगत माने जाते हैं। संगीतकला के संदर्भ में वे ही औचित्य–प्रकार स्वभावगत जानने चाहिये जो संगीतकृति के वास्तविक स्वरूप से परिचय कराने वाले हों। यहाँ 'स्वभाव' का सम्बन्ध आहार्य (काल्पनिक) यथार्थ से है, नग्न (प्राकृतिक) यथार्थ से नहीं। सहज आदर्श ही कलाकार का यथार्थ होता है। संगीत–रचना की स्वाभाविकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह संगीतश्रोता के विचार से दोषमुक्त किंवा गुणयुक्त है या नहीं। भारतीय संगीतकार स्वभावौचित्य के प्रेमी कहे जाते हैं। हमारे आचार्य, निर्देशक, गायक, वादक, नर्तक, श्रोता सभी आदर्शवादी हैं। स्वभावौचित्य–विधान के आग्रह से संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में कलाकृति एवं कलाकार के गुण–दोषों की विशद विवेचना की गई है।[१] वास्तव में, ऐसा संगीतकार ही सर्वत्र स्वभावौचित्य का विधान कर सकता है जिसका, एकमात्र व्रत अपने संगीत-कर्म से संगीतश्रोता को मुग्ध करना हो। संगीत–रचना के निर्दोष स्वभाव से संगीतकार और संगीतश्रोता एक ही भाव–भूमि पर आ खड़े होते हैं। स्वभाववादी संगीतकार ही संगीतश्रोता से यशोवरदान पा सकता है, अन्य नहीं। इन सभी पहलुओं को भलीभाँति समझने के लिये संगीत-ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। संगीताभिव्यक्ति तथा संगीतानुभूति के समय संगीतकार और संगीतश्रोता स्वभावौचित्य के अनुसन्धान में ही तत्पर रहते हैं, उदाहरणार्थ— स्वभावौचित्य के अनुयायी संगीतकार अपने गीत को इन १० गुणों से सदैव स्वाभाविक बनाया करते हैं– व्यक्त, पूर्ण, प्रसन्न, सुकुमार, अलंकृत, सम, सुरक्त, श्लक्ष्ण, विकृष्ट और मधुर।[२] इन समस्त गुणों की टीका लिखना यहाँ सम्भव नहीं। जिज्ञासा की तृप्ति के लिये शार्ङ्गदेव के विचारों को मूल रूप में उद्धृत करना पर्याप्त समझता हूँ।[३] भारतीय

---

१. 'संगीतरत्नाकर भाग २' पृष्ठ १३३–१८५, तृतीय प्रकीर्णकाध्याय।

२. वही, ४/३७३–३७४, पृष्ठ ३२२

३. वही, ४/३७४–३७८, पृष्ठ ३२२–" तत्र व्यक्तं स्फुटैः स्वरैः।। प्रकृतिप्रत्ययैश्चोक्तं छन्दोरागपदैः स्वरैः। पूर्णं पूर्णाङ्गगमकं प्रसन्नं प्रकटार्थकम्।। सुकुमारं कण्ठभवं त्रिस्थानोत्थमलंकृतम्। समवर्णलयस्थानं सममित्यभिधीयते।। सुरक्तं वल्लकीवंश कण्ठध्वन्यैकतायुतम्। नीचोच्चद्रुतमध्यादौ श्लक्षणत्वे श्लक्षणमुच्यते।। उच्चैरुच्चारणादुक्तं विकृष्टं भरतादिभिः। मधुरं धुर्यलावण्यपूर्णं जनमनोहरम्।।"

संगीतकला में स्वभावौचित्य-विधान के पोषक ऐसे अनेक दृष्टान्त खोजे जा सकते हैं। स्वाभाविक संगीत-रचना सदैव वातावरण को लेकर चलती है। उचित स्थान में उचित समय पर उचित प्रकार से उचित कलाकार के द्वारा प्रस्तुत किया गया संगीत अत्यन्त हृदयहारी होता है। रमणीय उद्यान में रमणीय वेला में रमणीय स्वर में रमणी के द्वारा गाया गया रमणीय गीत भला किसे रमणीय नहीं लगेगा? संगीतकला को स्वाभाविक बनाने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से पूर्व पथ पर प्राय: प्रगति करती आ रही है। स्वभावौचित्य की यह माँग है कि गानक्रिया में प्राय: स्त्रियाँ भाग लें और पाठ्यक्रिया में प्राय: पुरुष। स्त्रियों का कण्ठ स्वभाव से मधुर होता है और पुरुषों का परुष। यदि स्त्रियाँ पाठ्यक्रिया के लिये और पुरुष गानक्रिया के लिये योग्य सिद्ध हों, तो इस गुण को स्वभाव न कह कर स्वभाव का आभूषण कहना चाहिये।[1] संगीतश्रोता के स्वभाव के अनुकूल संगीत–रचना को सदैव स्वाभाविक बनाना चाहिये। इसे ही स्वभावौचित्य कहते हैं। संगीतश्रोता स्वयं स्वभावौचित्य के अनुसंधान में व्यस्त रहते हैं। संगीतकार का यह दायित्व है कि वह संगीत–कर्म को जनरुचि के अनुकूल प्रदर्शित करे। उनकी रुचिर प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए संगीतकार को अपना व्रत पूरा करना चाहिये। नाट्यशास्त्रकार उनके ध्यान को इसी ओर आकर्षित करते हुए यह लिखते हैं कि सम संगीत को आचार्य, पदच्छेद संगीत को पण्डित, सुकुमार संगीत को स्त्री, निकृष्ट संगीत को अन्य लोग पसंद करते हैं।[2] संगीताचार्य पार्श्वदेव ने तो इस विषय की मनोवैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की हैं। उनके विशद विवेचन का सारांश यह है कि आचार्य, पण्डित, शूर, सामाजिक, विरही, विट, योगी, भक्त, वादी, प्रमदा, महिला वर्ग क्रमश: सम, व्यक्त, कृष्ट, उत्साह, करुण, परिहास, अध्यात्म, रम्य, विषम, मधुर, मंगल गीत को सुनने के लिये व्यग्र रहते हैं।[3] यदि संगीत-रचना इन लोगों के स्वभावों को अनुग्रहीत नहीं करती, तो उसे स्वभावौचित्य से विमुख समझना चाहिये। श्रोता के स्वभाव से अनभिज्ञ संगीतकार

---

१. 'नाट्यशास्त्र भाग ४' ३३/५–६, पृष्ठ ३९८–३९९ "प्रायेण तु स्वभावात् स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधि:। स्त्रीणां स्वभावमधुर: कण्ठो नृणां बलित्वं च॥ यत्र स्त्रीणां पाठ्यं गुणैर्नराणां च गानमधुरत्वम्। ज्ञेयोऽलङ्कारोऽसौ न हि स्वभावो ह्ययं तेषाम्॥"

२. वही, ३४/१८२, पृष्ठ ४८४ "आचार्या: सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिता:। सुकुमारं स्त्रियश्चैव निकृष्टामितरे जना:॥"

३. 'संगीतरत्नाकर भाग २' चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ १९३ पर 'सुधाकरी' टीका में उद्धृत।

अपनी रचना को स्वाभाविक नहीं बना पाते। अतः ऐसे कलाकार स्वभाववादी (Idealist) नहीं कहे जा सकते। दूरदर्शी कलाकार वही है जिसका सम्पूर्ण संगीत स्वभावौचित्य से आन्दोलित हो। हर्ष है कि भारतीय संगीतकार इस आदर्श का पालन कर रहे हैं। उनकी आचार्यों के प्रति अटूट श्रद्धा है। स्वभावौचित्य-विधान के विधाता वे ही हैं।

भारतीय संगीत आद्यन्त भावमय है। शास्त्रीय संगीत को भावप्रवणता की धरोहर वैदिक संगीत से मिली है। उसको अक्षुण्ण रखने के लिये हमारा भारतीय समाज कृतसंकल्प है। मार्ग (शास्त्रगत) तथा देशी (लोकगत) संगीत के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय आज भी जीवित हैं। यों भी कह सकते हैं कि भारतीय संगीतकला प्राकृतवादी एवं परम्परावादी आदर्शों से ओत-प्रोत है। भारतीय जीवन में बारहमासा, कजरी, होली, आल्हा आदि आयोजन उतने ही सार्वजनिक हैं जितने कि भजन, कीर्तन, ठुमरी, दादरा, आदि आयोजन। भारतीय संगीतकला के स्वाभाविक विकास को देखकर पाश्चात्य पण्डित दाँतों तले उँगली दबा रहे हैं। स्वभावौचित्य की दृष्टि से वाद्य संगीत भी पीछे नहीं। तुरही, बीन, बाँसुरी, शंख, नगाड़ा, ढोल, मजीरा, चिमटा, खंजड़ी, करताल, डमरू, वीणा, तबला आदि वाद्य यन्त्र मार्ग संगीत के लिये भी कदाचित उतने ही उपयोगी हैं जितने कि देशी संगीत के लिये। तत, सुषिर, अवनद्ध और घन वाद्यों का निजी इतिहास भी है। बहुत-से भारतीय संगीतकार उनका आज भी उपयोग कर रहे हैं। ये वाद्य जनस्वभाव को स्वाभाविक रूप से आन्दोलित करने की क्षमता रखते हैं।

उपसंहार— भारतीय संगीतकला में औचित्य-विधान की वेदी पर समस्त संगीतप्रेमी युगों-युगों से अपना जीवन उत्सर्ग करते आये हैं। कारण कि हमारी संगीतकला का एकमात्र लक्ष्य श्रोताओं को नाद-सौन्दर्य के चमत्कार से प्रसन्न करना है।[1] यह तभी सम्भव है जब कि उसका व्यावहारिक स्वरूप सर्वथा औचित्यपूर्ण हो। व्याकरणगत, तत्त्वगत एवं स्वभावगत औचित्य-विधान के बिना यह साधना पूरी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त कुछ और बातें भी विचारणीय हैं— (१) संगीत-आयोजन के लक्ष्य को निश्चित करने के उपरान्त संगीतकार को देश, काल, ऋतु, प्रकृति, भाव, अनुभाव आदि के

---

1. 'Historical Development of Indian Music' Page 391 / "Indian music...its highest function is to create aesthetic beauty and bring through it the real peace and enjoyment in the minds of those., who listen to, and appreciate it."

औचित्य से अपना व्रत पूरा करना चाहिये, चाहे वह ध्रुवा संगीत [२] हो और चाहे मुक्त संगीत, (२) संगीत-कार्यक्रम का एक इतिहास होना चाहिये। संगीतकार और संगीतश्रोता दोनों ही 'सोचो-समझो-करो' प्रणाली के अनुयायी हों, (३) संगीतकार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान समृद्धिशाली हो। वे कथनी और करणी में समान हों। उनका संगीत स्वान्तःसुखाय भी हो और परान्तःसुखाय भी, (४) संगीतश्रोता की श्रवणेन्द्रिय निर्दोष हो। वे वीतविघ्न हों। वे संवेदनशील हों। संगीतश्रोता की भावयित्री प्रतिभा, संगीतकार की कारयित्री प्रतिभा के समान सजग हो। उनकी संगीत में अटूट अभिरुचि हो, (५) संगीत-रचना प्रतीकात्मक हो। सामाजिकों की परम्पराओं, अभिरुचियों, मान्यताओं एवं लक्ष्यों के अनुकूल संगीत को निर्देशात्मक किंवा उपदेशात्मक बनाया गया हो, (६) संगीत--रचना बिम्ब -योजना के लक्ष्य से प्रगतिशील हो। इसके लिये अनेक बातें आवश्यक हैं— संगीत का आयोजन गूँजरहित स्थान में हो, प्रायः रात्रि के समय हो, नेत्रेन्द्रिय एवं श्रवणेन्द्रिय से युगपत् गोचर होने वाला हो, ध्वनि--वैज्ञानिक नियमों पर आधारित हो इत्यादि, (७) संगीत-योजना अपनी शैली के अनुरूप अलंकृत हो! आभरणों एवं आभूषणों से हीन सुन्दरी का विलास भी हमारे आकर्षण का विषय नहीं बन पाता, (८) अन्त में, संगीत-आयोजन मौखिक, वाद्य एवं नृत्य विधाओं में सर्वाङ्गीण, आर्थिक दृष्टि से सस्ता, परम्परा के अनुकूल, उपदेशमूलक, प्रेरणादायक, रोचक, बोधगम्य, एवं चमत्कारक हो। यही है सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय संगीतकला का औचित्य-विधान। सौन्दर्यशास्त्री परम्पराओं एवं प्रयोगों में वह इतनी धनी है कि विश्व की समस्त संगीतकलायें मिलकर भी उससे स्पर्धा नहीं कर सकतीं।

---

२. 'नाट्यशास्त्र भाग४' ३२/३२८, पृष्ठ ३६५ "एवमर्थविधिं ज्ञात्वा देशकालमृतुं तथा। प्रकृतिं भावलिङ्गं तु ततो योज्या ध्रुवा बुधैः॥"

पुस्तक-सूची

१. अथर्ववेद भाग २, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, होशिआर-पुर, सं० २०१८
२. अथर्ववेद ३, " " " "
३. अमरकोश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १६७०
४. उत्तररामचरित, भवभूति, " " १६६६
५. ऋग्वेदसंहिता भाग २, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १६३६
६. कामसूत्र प्रथमभाग, वात्सायन, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सं० १६६१
७. कालिदासग्रन्थावली (संकलन), अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, सं० २००७
८. कुमारसम्भव, कालिदास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६७
९. चतुर्दण्डीप्रकाशिका, प्रथम भाग, वेंकटमखि, म्युजिकल अकाडेमी, मद्रास, १६३४
१०. छान्दोग्योपनिषद्, सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद, १६१६ ई०
११. ध्वन्यालोक, आनंन्दवर्धन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं २०२१
१२. नाटयशास्त्र भाग १, गायकवाड़ ओरिएन्टल सेरीज, बड़ौदा, १६५६
१३. नाट्यशास्त्र भाग २, " " १६३४
१४. नाट्यशास्त्र भाग ४, " " १९६४
१५. पद्मपुराण द्वितीय भाग, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला क्लाइव रोड, कलकत्ता, १६५७
१६. प्रबन्धकोश, राजशेखर सूरि, सिन्धी जैन ज्ञानपीठ विश्वभारती शान्तिनिकेतन, कलकत्ता, सं० १६६१
१७. पाणिनीय शिक्षा, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३८
१८. बृहद्देशी, मतंग, गवर्न्मेन्ट प्रेस, त्रिवेंद्रम, १९२८
१९ भरतकोश, तिरुमल तिरुपति देवस्थान मुद्रणालय, १६५१
२०. भरतभाष्य प्रथम खण्ड, नान्य भूपाल, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, १६६१
२१. महाभारतः शान्ति पर्व, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६५१
२२. मालतीमाधव, भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १६५४
२३. मृच्छकटिक, शूद्रक, मेहन्डाले बिल्डिंग बी० पी० रोड, बाम्बे, १६६२
२४. याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सं० १६६७

२५. ललितविस्तर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सं० २०१८
२६. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सं० २०१८
२७. वायुपुराण खण्ड २, संस्कृति--संस्थान, बरेली, १९६७
२८. विष्णुधर्मोत्तरमहापुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण
२९. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, सं० २०२०
३०. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १९५०
३१. संगीतदामोदर, शुभंकर, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६०
३२. संगीतपारिजात, अहोबल, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९५६
३३. संगीतमकरन्द, नारद, गायकवाड़ ओरिएन्टल सेरीज, बड़ौदा, १९२०
३४. संगीतरत्नाकर भाग१, शार्ङ्गदेव, दि अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४३
३५. संगीतरत्नाकर भाग २, „ „ „ „ १९४४
३६. संगीतरत्नाकर भाग ३, „ „ १९५१
३७. संगीतराज भाग १, महाराणा कुम्भ, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, १९४६
३८. संगीतसमयसार, पार्श्वदेव, गवर्नमेन्ट प्रेस, त्रिवेंद्रम, १९२५
३९. संगीतसारामृत, तुलजेन्द्र भूपाल, मद्रपुरी संगीत विद्वत्सभा, मद्रास, १९४२
४०. संगीतसुधा, रघुनाथ भूपाल „ „ १९४०
४१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, रूपगोस्वामी, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६३
४२. काव्यात्मक बिम्ब, अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद, ज्ञानालोक, पटना, १९६५
४३. ध्वनि और संगीत, ललितकिशोरसिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५
४४. प्रणवभारती: प्रथमवीणा, ओंकारनाथ ठाकुर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी. १९५६
४५. भरत का संगीत सिद्धान्त, आ० बृहस्पति, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग उ० प्र०, लखनऊ, १९५९
४६. भारतीय कला का सिंहावलोकन, पब्लिकेशन्स डिवीजन: सूचना एवं प्रसार मन्त्रालय, नई दिल्ली, १९५५
४७. भारतीय संगीत, उत्तमराम शुक्ल, दुर्लभ प्रकाशन मंदिर, तुलसी चबूतरा, मथुरा, १९५८
४८. सौन्दर्यशास्त्र, हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य भवन लिमि०, इलाहाबाद, १९५३

४६. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९६७
५०. सौन्दर्यशोध आणि आनन्द बोध (मराठी), रामचंद्र श्री जोग, देशमुख आणि कं० पुणें , १९४१
५१. संगीत की कहानी, भगवतशरण उपाध्याय, राजपाल एन्ड संस, दिल्ली, १९५७
५२. संगीतशास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, सूचना विभाग उ० प्र०, लखनऊ, १९५८

(अंग्रेजी)

53. Aesthetic, Croce, Vision, Press, Peter owen, London, 1953
54; Biographia Literaria vol. I, S. T. Coleridge, Oxford Univ., Press, London, 1962.
55. Comparative Aesthetics, K. C. Pandey, The chowkhamba Sanskrit Series, Banaras, 1950
56. Creative Intuition In Art and Poetry, J. Maritain, Pantheon Books, Newyork, 1960
57. Historical Development of Indian Music, Swami Prajnananda, firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1960
58. Indian Aesthetics, K. S. Ramaswami Shastri, Srirangam Sri Vani Vilas Press, 1928
59. Indian Aesthetics and Art Activity, Indian Institute of Advanced study, Simla, 1968
60. Indian Music: An Introduction, D. P. Mukerjee, Kutub publishers, Poona, Ist Edition, 1945
61. Introduction To the study of Indian Music, E, Clements, Longmans Green & Co. Ltd , London, 1913
62. Six Ragas And Thirty six Raginis of Hindu, S. M. Tagore, Bengal Academy of music, Calcutta, 1877
63. Sound And Symbol, Victor Zuckerkandl, Mcclelland And Stewart Ltd., Toronto, Canada, 1956,
64. Theory of Indian Music, Bishan Swarup, Swarup Brothers, Allahabad, 1950
65. The Music of India, H. A. Popley, Calcutta, 1921
66. The Sense of Beauty, George Santayana, Collier Books, Newyork, 1961
67. The Story of Indian Music, O. Gosvami, Asia pub, House, Bombay, 1957

परिचय

यह संयोग की बात है कि *श्री रामाश्रय शुक्ल 'करुणेन्द्र'* के पूर्वज मेरे ही वासस्थान के प्रवासी हैं। ८० वर्ष पूर्व उनके गोत्रीय कुटुम्ब यहीं से इधर-उधर जाकर बस गये। मेरे लिये इससे अधिक आत्मीयता और क्या हो सकती है ? इसीलिये श्री शुक्ल का परिचय देते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। उनके वेष-भूषा, आचार-विचार, अध्ययन-अध्यापन आदि दैनिक व्यापारों में आत्म-विज्ञापन की कोई झलक तक नहीं दीखती। वे प्राय: प्रथम श्रेणी के छात्र रहे हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय दीक्षान्त समारोह १६६४ मे राज्यपाल/कुलपति के कर-कमलों मे 'संस्कृत प्रवीणता' के लिये उन्हें स्वर्णपदक भी मिल चुका है। अमर जगत्, अमर दिवाकर, अरुण भारत, असलियत, टंकार, दर्द और सरगम, देहाती, धुआंधार, नवोदित, प्रजा, बमबम, युगान्तर, युगप्रेरणा, राष्ट्रमत, लोकमार्ग, विचार, विभावरी, सत्यमार्ग, सहयोगी आदि पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविता आदि रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं। लखनऊ आकाशवाणी केन्द्र से 'स्वर वेला' एवं 'श्रमिक गोष्ठी' आयोजनों के अन्तर्गत उनके 'कविता पाठ' तथा मथुरा आकाशवाणी केन्द्र से 'वार्ता' कार्यक्रम प्रसारित हो चुके हैं। शोधत्सु के रूप में "सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय नाट्य कला" शोध विषय मे सम्बन्धित यह पुस्तिका लिखकर उन्होंने एक बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। तद्विषयक उनकी दूसरी पुस्तिका "सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय शिल्पकलायें" नाम से शीघ्र ही प्रकाशित होगी। अन्त में मुझे इतना विश्वास है कि वे कलासमीक्षक का दायित्व निभाते हुए समस्त ललित कलाओं का सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यांकन करके भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में नये अध्याय जोड़ेंगे।

डा० जगदीश नारायण मिश्र
एम. ए., बी. एड., एम. एड., पी-एच. डी., ई. एल. टी. डी.
व्याख्याता-शासकीय विद्यालय, सागर (म. प्र.)
वासस्थान:—कुर्सी, कानपुर (उ. प्र.)

* आवरण- पटेल फाइन आर्ट लिथो एन्ड प्रिंटिंग वर्क्स सागर से सज्जित *